

भारतीय साहित्य के निर्माता

मलयज

विजय कुमार

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

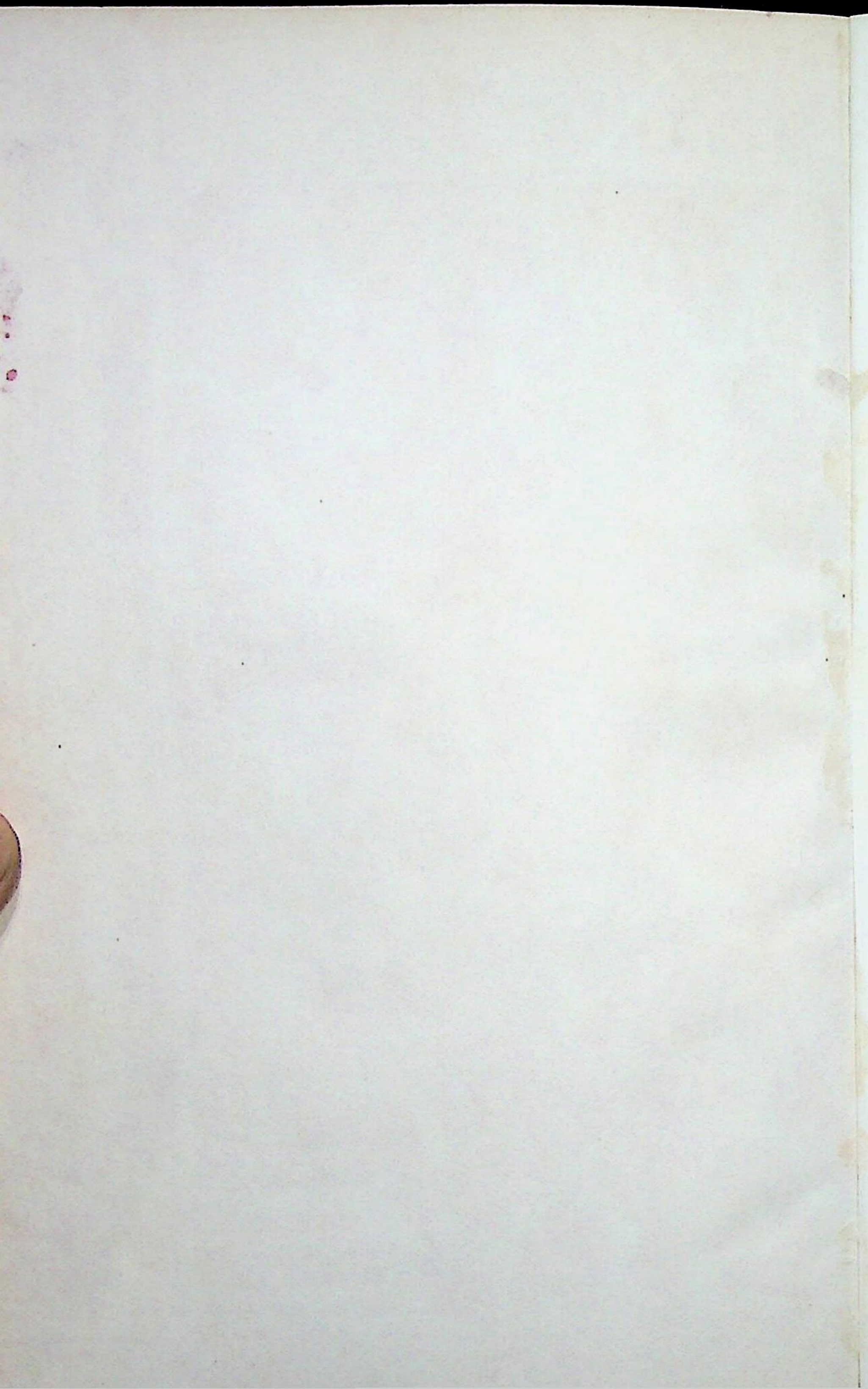
भारतीय साहित्य के निर्माता

मलयज

विजय कुमार



साहित्य अकादेमी



मलयज

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

मलयज

विजय कुमार



साहित्य अकादेमी

Malayaj : Monograph in Hindi on modern Hindi writer by Vijay Kumar, Sahitya Akademi, New Delhi, (2006), Rs. 25.00

संस्करण : 2006 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23 ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 002

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग (द्वितीय तल) 443, (304) अन्ना सालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-2262-0

मूल्य : 25.00 रुपये

शब्द संयोजक : क्वालिटी प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली 110 032
मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, दिल्ली 110 032

अनुक्रम

मलयज का जीवन-वृत्त

मलयज का जन्म उत्तर प्रदेश के आज़मगढ़ ज़िले के महुई गाँव में सन् 1935 ई. में एक खाते-पीते कायस्थ परिवार में हुआ था। उनका मूल नाम भरत जी श्रीवास्तव था। पिता त्रिलोकीनाथ वर्मा और माता प्रभावती की पाँच संतानें थी। चार बहनों और दो भाइयों के बीच मलयज सबसे बड़े थे। उनकी बहन प्रेमलता, निर्मला, शोभा और नीलिमा हैं और छोटे भाई का नाम आशीष है। मलयज और आशीष की आयु में इतना अंतर था कि मलयज अपने छोटे भाई से लगभग पुत्रवत स्नेह करते थे। 1969 ई. में उनका ज्योत्स्ना (घरेलू नाम सरोज) से विवाह हुआ था और उनकी दो संतानें हैं।

मलयज के बचपन में ही उनका परिवार गाँव छोड़कर इलाहाबाद चला आया था। महुई में उनका पैतृक घर और थोड़ी-सी ज़मीन थी। दादा उर्दू में शायरी करते थे और ज़मीन की देखभाल करते थे। मलयज की पढ़ाई-लिखाई इलाहाबाद में ही हुई। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. किया था। मलयज के पिता बहुत सीधे और सरल आदमी थे—अत्यंत धैर्यवान, संघर्षशील और स्वप्नजीवी। खाता-पीता परिवार था। त्रिलोकीनाथ वर्मा फ़िल्म वितरण के व्यवसाय से जुड़े हुए थे। उन्होंने रामाज्ञा सिंह नाम के एक मित्र के साथ भागीदारी में इलाहाबाद में एक सिनेमाघर 'प्रभात टॉकीज' भी बनाया था। लेकिन त्रिलोकीनाथ इतने सीधे सरल व्यक्ति थे कि व्यवसाय में ठगे गए। उनके भागीदार ने धोखे से यह सिनेमा हॉल अपने नाम करा लिया। इलाहाबाद में यह सिनेमाघर अब मानसरोवर टॉकीज के नाम से जाना जाता है। व्यवसाय में इस नुक़सान की वजह से त्रिलोकीनाथ जी की माली हालत एकदम बिगड़ गई। घर में आर्थिक दैन्य छा गया। परिवार एकाएक मुसीबतों में घिर गया। त्रिलोकीनाथ जी को एक सिनेमाघर में नौकरी करनी पड़ी। परिवार बड़ा था, ख़र्च ज़्यादा था। आर्थिक संघर्ष के बीच घर किसी तरह चलता रहा।

मुसीबत अकेले नहीं आई। बचपन में ही मलयज को घर आए एक नवागंतुक से क्षय रोग का संक्रमण लग गया। उन दिनों क्षयरोग की आज जैसी विकसित चिकित्सा नहीं थी। युवावस्था आते-आते मलयज गंभीर रूप से बीमार हो चुके थे। 1956 ई.

में बी.ए. के अध्ययन के दौरान ही उन्हें उनके पिता इलाज के लिए दक्षिण में वेल्लूर ले गए। तीन माह तक मलयज वेल्लूर में रहे। उनका आपरेशन हुआ और बीस वर्ष की उम्र में ही उनका एक फेफड़ा काटकर निकाल दिया गया। इस बीमारी ने उनसे बहुत बड़ी क़ीमत वसूल की। वे लगभग कृशकाय हो गए। उनके स्वभाव पर भी असर पड़ा। गंभीर और अंतर्मुखी मलयज को एक स्थायी अवसाद ने घेर लिया। बीमारी से उनकी पढ़ाई में भी व्यवधान आया। लेकिन मलयज में एक अदम्य जीवन ऊर्जा थी। विपरीत परिस्थितियों में सक्रिय रहने का ऐसा दूसरा उदाहरण मुश्किल है। आपरेशन के तुरंत बाद स्वास्थ्य लाभ के लिए उन्हें रानीखेत ले जाया गया। वहाँ वे लगभग छह महीने तक रहे। उसके बाद तो हर बार गर्मियों में उन्हें स्वास्थ्य लाभ के लिए पहाड़ पर जाना होता था। घर में आर्थिक संघर्ष बढ़ गया था। मलयज के इलाज पर भी काफ़ी पैसा ख़र्च होता था। वे अपनी तमाम मनःस्थितियों को डायरी में दर्ज़ करते रहते थे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मलयज की सहपाठी शिवकुटीलाल वर्मा और श्रीराम वर्मा से मित्रता हुई। श्रीराम वर्मा रिश्ते में मलयज के मामा लगते थे पर उनसे आयु में एकाध वर्ष छोटे थे। मामा-भांजे का यह संबंध जीवनपर्यन्त एक प्रगाढ़ मैत्री का बना रहा। शिवकुटीलाल वर्मा, श्रीराम वर्मा और मलयज तीनों की साहित्य में—विशेषकर कविता में गहरी रुचि थी। इलाहाबाद में अपने अध्ययन के दौरान ही मलयज हिन्दी कविता के चर्चित हस्ताक्षर विजयदेव नारायण साही के संपर्क में आए। साही जी इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य के प्राध्यापक थे। मलयज उनके छात्र थे। साही की प्रेरणा से ही मलयज ने बी.ए. के बाद एम.एम. (अंग्रेज़ी) में दाखिला लिया। यह पचास के दशक के अंतिम वर्ष थे। इलाहाबाद में नई कविता और नई कहानी की धूम थी। साही के अलावा डॉ. धर्मवीर भारती, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, विपिन कुमार अग्रवाल जैसे नई कविता के कई चर्चित हस्ताक्षर इलाहाबाद में ही रहते थे। इनकी 'परिमल' नामक संस्था थी, जिसमें नए युग की रचनात्मक प्रवृत्तियों पर विचार गोष्ठियाँ और रचना पाठ होते रहते थे। पुरानी पीढ़ी में सुमित्रानंदन पंत, इलाचंद्र जोशी और नरेन्द्र शर्मा से मलयज का संपर्क हुआ। साहित्य का पूरा माहौल ही सरगर्मी से भरा हुआ था। *निकष, नयी कविता, माध्यम* और *नये पत्ते* जैसी नवलेखन की पत्रिकाएँ भी इलाहाबाद से निकल रही थीं। मलयज ने श्रीराम वर्मा और शिवकुटीलाल वर्मा के साथ मिलकर 'झंकार' नामक साहित्यिक संस्था भी बनाई थी। आरंभ में मलयज महादेवी वर्मा और बच्चन से प्रभावित छंदबद्ध कविता लिखते थे। उनकी भावभूमि रूमानी थी। विश्वविद्यालय में पढ़ाई के दौरान मलयज का आधुनिक साहित्य से परिचय हुआ। अंग्रेज़ी और विदेशी साहित्य के गंभीर अध्ययन ने भी उन्हें प्रभावित किया। शमशेर बहादुर सिंह के निकट सान्निध्य से मलयज नवलेखन की तमाम जटिलताओं

और वैचारिक द्वंद्वों से परिचित हुए।

निकष पत्रिका के प्रथम अंक में डॉ. धर्मवीर भारती ने मलयज की कविताएँ छापीं थीं। इससे युवा मलयज का इलाहाबाद के साहित्यिकों से परिचय बढ़ा। बाद में डॉ. जगदीश गुप्त ने 'नई कविता' में भी उनकी कविताएँ प्रमुखता से छापीं और लक्ष्मीकांत वर्मा ने उनकी कविताओं पर लेख लिखा। इलाहाबाद में ही युवा मलयज कमलेश्वर, माकर्ण्डेय, शेखर जोशी और अमरकांत के भी संपर्क में आए। अज्ञेय, नरेश मेहता, विपिन कुमार अग्रवाल, नित्यानंद तिवारी, दूधनाथ सिंह, नामवर सिंह और केदारनाथ सिंह आदि के प्रत्यक्ष संपर्क में भी इलाहाबाद के दिनों में मलयज आ चुके थे।

इलाहाबाद में 'परिमल' और प्रगतिशील लेखक संघ साहित्यिक सर्जनात्मकता और विचारदृष्टि के दो ध्रुव थे। 'परिमलवादियों' का ज़ोर साहित्य की स्वायत्तता और प्रयोगशीलता पर था। अज्ञेय इस विचारधारा के सूत्रधार थे। दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ के साहित्यकार थे। भैरवप्रसाद गुप्त, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, दुष्यंत कुमार, अमरकांत, शेखर जोशी जैसे साहित्यकार 'प्रलेस' से जुड़े हुए थे। वे वामपंथी विचारधारा के अनुयायी थे। वे साहित्य को जागरण और जनक्रांति का एक माध्यम मानते थे। यह आज़ादी के बाद का दशक था और 'परिमल' और 'प्रगतिशील लेखक संघ' के बीच समाज, साहित्य, संस्कृति, विचारधारा, पक्षधरता और कला-मूल्यों आदि को लेकर ख़ूब उत्तेजक बहसें छिड़ी हुई थीं। 1958 ई. में इलाहाबाद में प्रगतिशील लेखक संघ का महाधिवेशन हुआ, जिसमें शिरकत करने मुक्तिबोध भी आए थे। यहीं मलयज का मुक्तिबोध से पहली बार प्रत्यक्ष मिलना हुआ। नई कविता के शिविर में मुक्तिबोध की एक अलग ही तरह की तेजस्वी उपस्थिति थी। मुक्तिबोध के मुँह से उनकी कविता 'ब्रह्मराक्षस' का पाठ सुनकर मलयज गहरे प्रभावित हुए थे। मुक्तिबोध से यद्यपि मलयज का प्रत्यक्ष संपर्क बाद के दिनों में भी अधिक नहीं था, पर मुक्तिबोध के प्रति एक गहरी उत्सुकता और आदर का यह भाव बाद में उम्रभर उनके मन में बना रहा।

1960 ई. तक आते-आते मलयज नए साहित्य के रंग में पूरी तरह रंग चुके थे। वे 'परिमल' की गोष्ठियों में नियमित हिस्सा लेते थे, बल्कि बाद में तो वे 'परिमल' के संयोजक भी बने। इलाहाबाद में रूपा एण्ड कंपनी और यूनिवर्सल बुक डिपो से उन्हें अंग्रेज़ी की पुस्तकें सुलभ हो जाती थीं। मलयज की आधुनिक विश्व-साहित्य और उसके विमर्श में गहरी रुचि हो गई थी। अपनी कठिनाइयों, संघर्ष और अवसाद के बीच लेखन और पठन उन्हें मुक्ति देता था। इलाहाबाद में साहित्यकारों की आपसी गुटबाज़ियों और अखाड़ों में मलयज की रुचि नहीं थी। वे एक गंभीर, एकांतप्रिय और मितभाषी व्यक्ति थे। मलयज के समस्त व्यवहार में एक चयनधर्मी दृष्टि थी। सार्वजनिक जीवन में भी वे अपने आत्मसम्मान और प्राइवेसी को बरक़रार रखते थे। वे कम ही कहीं जाते थे। एक ख़ास तरह की दृढ़ता, निर्भीकता, साफ़गोई और धैर्य

उनके स्वभाव का अंग था। वे साहित्य जगत की वाचालता, दुनियादारी और तिकड़मों से कोसों दूर थे। साहित्य में कैरियर बनाने जैसी कोई महत्त्वाकांक्षा उनमें नहीं थी। उनमें सहने की एक असाधारण क्षमता थी। वे एक अंदरूनी तनाव को जीते थे और बाहर से शांत और धैर्यवान बने रहते थे। इलाहाबाद में लोगों का ध्यान मलयज की तरफ़ उनकी पीढ़ी के अन्य लेखकों की तुलना में देर से गया था, पर इसका उन्हें कोई मलाल नहीं था। एकाकी जीवन से पार पाने का गुर उन्होंने सीख लिया था चुपचाप अपना काम करते जाना।

मलयज के परिवार में छोटी बहन प्रेमलता और निर्मला की भी साहित्य में गहरी रुचि विकसित हो गई थी। उस दौर की मध्यमवर्गीय युवा पीढ़ी पर अज्ञेय का गहरा प्रभाव था। अज्ञेय के उपन्यास *शेखर : एक जीवनी* की ख़ूब चर्चा होती थी। पर मलयज अज्ञेय से विशेष प्रभावित नहीं थे। अज्ञेय की तुलना में विजयदेव नारायण साही और शमशेर का व्यक्तित्व उन्हें अधिक प्रभावित करता था। शमशेर मलयज के परिवार में भी आत्मीय स्तर पर जुड़े हुए थे। मलयज शमशेर को 'ताऊजी' का आत्मीय संबोधन देते थे। साही की साहित्यिक सुरुचि और काम करने के अनुशासित तरीक़े का मलयज पर गहरा असर पड़ा था। शमशेर जी के ही शब्दों में, "शुरू से मलयज को करीना, सफ़ाई और सुथरापन पसंद रहा। उनकी दिनचर्या काफ़ी व्यवस्थित थी। उनकी पांडुलिपियाँ ठीक छापे-से अक्षरों में लिखी हुई और साफ़-सुथरी थीं।"

पिता पास के एक सिनेमाघर में मैनेजर की ज़िम्मेदारी सँभाले हुए थे और अक्सर बहुत व्यस्त रहते थे। उन्हें बच्चों पर ध्यान देने के लिए कम समय मिलता था। मलयज भाई-बहनों में सबसे बड़े थे और घर के प्रति स्वयं को बहुत ज़िम्मेदार महसूस करते थे। प्रेमलता बी.ए. के बाद एल.टी. करके बच्चों के स्कूल में पढ़ाने लगी थीं। मलयज ने एम.ए. करते हुए ही इलाहाबाद के प्रकाशक रामनारायण लाल के लिए *जेबी इंग्लिश-हिन्दी कोश* का संशोधित संस्करण तैयार किया। इसके लिए *विवेकानंद ग्रंथावली* के हिन्दी संस्करण के लिए भी उन्होंने बहुत सारा अनुवाद कार्य किया। इलाहाबाद के उन दिनों के बारे में लिखते हुए शमशेर जी ने मलयज का ज़िक्र कुछ इन शब्दों में किया है, "निश्छल, धैर्ययुक्त, आँखों में चिन्तन की जिज्ञासा, खोज का मौन भाव, किताब या नोट बुक पर झुकी हुई, कभी-कभार परिवार के परिप्रेक्ष्य में एक चिढ़न और असंतोष भी व्यक्त करती हुई पर साथ ही अपनी सहन शक्ति का भी परिचय देते हुए मलयज की एक शबीह मेरे सामने है।"

स्व. श्रीकृष्ण दास के संपादन में इलाहाबाद के मित्र प्रकाशन से साहित्यिक पुस्तकों की एक सिरीज़ छपनी शुरू हुई थी। मलयज उसके प्रकाशन के कार्य से भी जुड़े हुए थे। लेकिन आर्थिक संघर्ष बढ़ता जा रहा था। इलाहाबाद में कुछ समय तक वे के.पी. कॉलेज में अंग्रेज़ी साहित्य के प्राध्यापक भी रहे।

इलाहाबाद में मलयज और शमशेर के बीच प्रगाढ़ मैत्री संबंध बन गए थे। शुरू में शमशेर जी को मलयज का स्वभाव बहुत शुष्क लगा था। शमशेर ने लिखा है कि "वे सतर्कपूर्ण ज़िरह के एक प्रश्नपत्र सरीखे थे। जैसे सब कुछ सोच-विचार कर तैयार होकर मिलने आए हों। उनमें कोई हार्दिकता नहीं थी। हर समय मानो मेरे अंदर कुछ कुरेद रहे हों। मुझे उलझन होने लगी। यह तब की बात है, जब वे बी.ए. फ़ाइनल या एम.ए. आरंभ कर रहे थे।" लेकिन मलयज शमशेर की कविता के पाठक ही नहीं थे, निर्मम, विश्वसनीय और बेलाग आलोचक भी थे। एक साफ़गोई उनके स्वभाव में थी। 1960 में *लहर* के कविता विशेषांक का संपादन मलयज ने किया था। इसी में उन्होंने शमशेर की कविता पर लेख लिखा था। इसी अंक के बाद नवलेखन के सौन्दर्यशास्त्र को लेकर मलयज और दूधनाथ सिंह के बीच एक गंभीर बहस भी *लहर* में छिड़ी थी। इसी बीच *माध्यम* में उनकी पहली कहानी छपी थी। इन्हीं दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पोलिश युवती आग्नेश का कोवाल्स्का का आगमन हुआ। उसकी मलयज की बहन प्रेमा से मित्रता हुई और शीघ्र ही वह मलयज के परिवार का ही जैसे एक अंग बन गई। आग्नेशका आधुनिक हिन्दी कविता पर शोध करने पोलैण्ड से भारत आई थी। शांतिनिकेतन में एकाध साल बिताकर उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दाखिला लिया था। बाद में ये रंगकर्मी और चित्रकार विजय सोनी से विवाह कर आग्नेश्का सोनी बनी। आग्नेश्का से परिचय के बाद मलयज की दिलचस्पी आधुनिक यूरोपीय साहित्य और कला के इतिहास में और बढ़ गई। मलयज के मध्यमवर्गीय परिवार के सान्निध्य में रहकर ही आग्नेश्का का भारतीय रीति-रिवाजों और तीज-त्यौहारों से निकट परिचय हुआ। आग्नेश्का मलयज के परिवार के साथ रानीखेत भी घूमने गई थीं।

इलाहाबाद में साहित्यिकों का एक बड़ा जमावड़ा होने के बावजूद मलयज कम ही कहीं ज़ाते थे। वे 'परिमल' संस्था से जुड़े हुए थे, पर लोहियावाद से प्रभावित नहीं थे। राजनीतिक अखाड़ेबाजी से भी वे दूर ही रहते थे। शमशेर के अनुसार मलयज बुनियादी रूप से एक एस्थीट थे और अंत तक वही रहे। मलयज को ड्राइंग और स्केच बनाने का भी शौक़ था। उनकी डायरी में रानीखेत प्रवास के दौरान बनाए गए कुछ सुंदर स्केच संगृहीत हैं। खजुराहो पर बनाए कुछ स्केच भी उनके पास थे। बाद में *पूर्वग्रह* के अंकों में उनके कुछ स्केच छपे भी थे। अपनी पत्नी और माँ के भी कुछ स्केच उन्होंने बनाए थे। आर्थिक चिन्ताओं, मानसिक तनाव, स्थायी हताशा और घनघोर अकेलेपन के बावजूद मलयज भावनात्मक रूप से अपने परिवार से गहरे जुड़े हुए थे। पिता की कोई आय नहीं थी। मलयज परिवार के प्रति स्वयं को गहन रूप ज़िम्मेदार मानते थे। मलयज और उनकी पत्नी के बौद्धिक धरातल में हालाँकि काफ़ी अंतर था, पर पत्नी औसत गृहस्थन, हँसमुख, बच्चों जैसी निश्छल, परिश्रमी और अपने पति के प्रति समर्पित थी। मलयज को अपने छोटे भाई से भी अपार स्नेह था।

परिवार पर दैनंदिन आर्थिक संकट बना हुआ था। इलाहाबाद में इतने बड़े परिवार के साथ गुज़र-बसर मुश्किल थी। मलयज लगातार एक उखड़ी हुई मनस्थिति और हताशा से घिरे रहते थे। 9 अगस्त 1964 ई. की उनकी डायरी का एक पृष्ठ उनकी इस समय की मनःस्थिति की बानगी देता है, ''वही कमरा है, वही कमरा और मैं। दीवारें चिमगादड़ के पंखों के रंग-सी हमेशा फट-फट होती रहती हैं। दिल में धुकुर धुकुर। निश्चिन्तता की कहीं कोई सूरत नहीं। एक-एक दिन बिना किसी दुर्घटना के कट जाता है, इस बात का एहसास कहीं और अकेला बनाता जाता है, तोड़ता जाता है, किसके चेहरे को थाम लूँ? सब आँखें फिरी हुई हैं। इतनी समस्याएँ तो कभी नहीं थी। चिन्ता रीढ़ में कीड़ा बनकर विश्वासों का आधार खोखला कर रही है।'' सितंबर 1964 ई. में बेहतर आजीविका की तलाश में मलयज दिल्ली चले आए। शमशेर की वजह से मलयज का वरिष्ठ साहित्यकार प्रभाकर माचवे और उनके परिवार से निकट परिचय हुआ। प्रभाकर माचचे साहित्य अकादेमी के सचिव थे। माचवे जी के प्रयत्नों से 1964 ई. में मलयज को भारत सरकार के कृषि मंत्रालय में अंग्रेज़ी पत्रिकाओं के संपादन विभाग में नौकरी मिल गयी। दिल्ली में उनके लिए आजीविका का एक स्थायी साधन बना। हालाँकि बेचैनी, अन्यमनस्कता, अकेलापन और थकान मलयज की मनोदशा के स्थायी भाव बन चुके थे। दिल्ली में भी वे थकान और ताज़गी के एक मिले-जुले भाव को जी रहे थे।

मॉडल टाउन में मलयज कुछ दिन शमशेर जी के साथ रहे, फिर उन्होंने वहीं अलग किराए पर अपने लिए कमरा ले लिया। बाद में उनके परिवार के अन्य सदस्य भी उनके साथ रहने दिल्ली आ गए। पिता का इलाहाबाद में आय का कोई ज़रिया नहीं था। अंततः वे भी इलाहाबाद छोड़कर चले आए और दिल्ली में बेटे के साथ रहने लगे। दिल्ली में इस बीच मलयज की बहन प्रेमलता की पेरू दूतावास में हिन्दी शिक्षक के रूप में नियुक्ति हो चुकी थी। वहां वे दूतावास के सांस्कृतिक सचिव और भारत विद्याविद डॉ. फ़र्नेन्दो तोला के संपर्क में आईं। इस गहन संपर्क की परिणति दोनों के विवाह में हुई। चाँदनी चौक के मंदिर में हिन्दू रीति से दोनों का विवाह हुआ।

1864 ई. से 1982 ई. के बीच मलयज ने अपना सारा प्रौढ़ लेखन दिल्ली में रहकर ही किया। दिल्ली में रहते हुए ही उनके दो कविता-संग्रह *ज़ख़्म पर धूल* (1971 ई.) तथा *अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ* (1980 ई.), आलोचना की पुस्तक *कविता से साक्षात्कार* (1979 ई.) प्रकाशित हुए थे। अपनी अधिकांश पुस्तकों के कवर डिज़ाइन मलयज के ही बनाए हुए हैं। शमशेर की षष्ठीपूर्ति के अवसर पर 1971 ई. में उन्होंने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के साथ मिलकर *शमशेर* शीर्षक से एक पुस्तक का संपादन किया था, जिसमें अधिकांश मेहनत मलयज की ही थी।

साठ के दशक में दिल्ली में एक ख़ास अर्थ में युवा लेखन के उभार की स्थितियाँ

थीं। साहित्य जगत में युवा पीढ़ी के आक्रोश, अनास्था, निषेध, मूल्यहीनता, व्यवस्था विरोध, राजनीतिक प्रतिबद्धता और वामपंथी चेतना के अलग-अलग स्वर उभर रहे थे। साहित्य में मध्यवर्गीय सौन्दर्य रुचि के प्रति तीव्र निषेध का भाव जाग रहा था। लेखक की प्रतिबद्धता, राजनीति और साहित्य, राज्याश्रय और प्रगतिशीलता, व्यवस्था और विद्रोह तथा सर्जनात्मक भाषा के संकट पर नाना प्रकार की बहसें हो रही थीं। साहित्य में लघु पत्रिकाओं की एक बाढ़ आई हुई थी। अधिकांश युवा सर्जनात्मकता लघु पत्रिकाओं के माध्यम से ही सामने आ रही थी। हिन्दी की तमाम गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र अब दिल्ली बनता जा रहा था। मलयज इस सारी हलचल को निकट से देख रहे थे, बल्कि उसका एक अंग भी थे।

लेकिन दिल्ली में साहित्यिक खेमेबाज़ियों और उठा-पटक से तटस्थ मलयज की अपनी एक अलग पहचान थी। वे मितभाषी थे। ऊपर से संकोची और सौम्य लेकिन भीतर से बेहद सख़्त। दूधनाथ सिंह के अनुसार वे सड़क पर साथ-साथ चलते हुए चुप रहते थे। अज्ञेय की तरह कम बोलते थे, पर अपने विचारों को तरीक़े से अपनी डायरी में नोट कर लेते थे। अपनी मर्मभेदी दृष्टि, अचूक पकड़, गंभीर अध्ययन, नैतिक पारदर्शिता और निस्पृह किस्म की बेबाकी के कारण उनका एक नितांत भिन्न व्यक्तित्व था। आलोचनात्मक गद्य में भाषित सर्जनात्मकता के वे श्रेष्ठतम उदाहरण थे। उनके रुचि के विषय भी व्यापक थे। साहित्य के अलावा संगीत, कला प्रदर्शनियों और सिनेमा में उनकी गहन रुचि थी। वे दिल्ली फ़िल्म सोसायटी के सदस्य थे और नियमित रूप से अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा देखने जाते रहते थे। दिल्ली की साहित्यिक गोष्ठियों में वे जाते थे, पर लौटते समय अक्सर उनके भीतर एक ऊब और खीझ भरी रहती थी। इसकी बानगी उनकी डायरी से मिलती है। दिल्ली में शमशेर, विश्वनाथ त्रिपाठी, त्रिलोचन, रघुवीर सहाय जैसे थोड़े से लोगों के साथ ही उनकी अंतरंग बहसें होती थीं। इसके विवरण भी उनकी डायरियों में मिलते हैं। बाहर रमेशचंद्र शाह, श्रीराम वर्मा और शिवकुटीलाल वर्मा से उनका नियमित पत्र-व्यवहार होता रहता था। 1974 ई. में भोपाल से अशोक वाजपेयी ने आलोचना की मासिक पत्रिका *पूर्वग्रह* का प्रकाशन आरंभ किया तो पत्रिका के 1 से 7 अंकों तक श्रीकांत वर्मा, नेमिचंद्र जैन, कमलेश, प्रभात कुमार और रमेशचंद्र शाह के साथ मलयज भी उसके परामर्श मंडल के सदस्य थे। उस दौर के उनके अधिकांश महत्त्वपूर्ण लेख *पूर्वग्रह* में छपे हैं। भोपाल में आयोजित गोष्ठियों में भी वे हिस्सेदारी करते रहे थे।

साहित्य में मलयज को इतना महत्त्व प्राप्त हो जाने के बावजूद भी यह एक विडंबनात्मक स्थिति थी कि अपनी पुस्तकों के प्रकाशन उनके लिए सहज नहीं था। जहाँ दिल्ली में हर वर्ष पचासों नए लेखकों की किताबें धड़ल्ले से छप जाती हैं, साहित्य जगत में अपनी सारी प्रतिष्ठा, संपर्क और महत्त्व के बावजूद मलयज अपनी पहली आलोचना पुस्तक *कविता से साक्षात्कार* छपवाने के लिए सात वर्षों तक तरसते रहे

और उद्विग्न बने रहे। पहले इस पुस्तक की पांडुलिपि आलोचक नेमिचंद्र जैन के पास डेढ़ साल तक पड़ी रही। फिर नेशनल पब्लिशिंग हाउस ने 2 साल तक इसे लटकाए रखा। मलयज ने हारकर इसे राजकमल प्रकाशन को दिया तो वहां यह लगभग 10 माह तक पड़ी रही। मलयज पांडुलिपि वापस ले आए और साल भर तक उन्होंने इसकी किसी से चर्चा ही नहीं की। जुलाई 1978 ई. में डॉ. नामवर सिंह ने मलयज से इस आश्वासन के साथ पांडुलिपि ली कि वे इसे राजकमल प्रकाशन से छपवा देंगे। राजकमल प्रकाशन ने कहा कि वे दो साल बाद ही इस पुस्तक को छाप सकेंगे। तब अशोक वाजपेयी ने संभावना प्रकाशन, हापुड़ पर अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर यह पांडुलिपि नवंबर 1978 ई. में उन्हें छापने को दी। अंततः अगस्त 1979 ई. में यह पुस्तक छपकर आई। इस दौरान मलयज की जो मनःस्थिति रही उसके संकेत उनकी डायरी से मिलते है। अगस्त 1979 ई. में जब यह पुस्तक आख़िरकार छपकर आई तो पुस्तक को लेकर मलयज का मोह लगभग समाप्त हो चुका था। 8 अगस्त 1979 ई. की डायरी में वे लिखते हैं, ''किताब की पांडुलिपि दुहराने, प्रूफ़ पढ़ने, कवर तैयार करने, फ़्लैप मैटर बनाने, अंतःवर्ती शुरू के पृष्ठों की लेटरिंग तैयार करने आदि के क्रम में किताब इतनी बार हाथों से गुज़री, उसके कच्चे रूप के साथ इतनी बार साथ रहना पड़ा कि कब वह 'पक' कर बाहर आ गई है—बस उस आने के क्षण तक की व्यग्र उत्सुकता को छोड़कर कोई विशेष उत्साह, उल्लास नहीं रह जाता...छपने की हर प्रक्रिया के साथ कृति लेखक से दूर होती जाती है। कल सरस्वती प्रेस के शोरूम में किताबों से लदी ऊँची-ऊँची आल्मारियों को देखकर मन में आया था कि मेरी किताब भी इसी तरह पुस्तक विक्रेताओं की आल्मारियों के किसी कोने में अँडसा दी जाएगी, तमाम अच्छी-बुरी किताबों के साथ। कौन देखेगा उन्हें?...कुछ महीनों बाद नई छपी किताबें भी पुरानी पड़ जाएँगी...उन पर धूल की पर्तें होंगी और वे वैसे ही पड़ी रहेंगी।''

इससे पहले 1971 ई. में उनका कविता संग्रह *ज़ख़्म पर धूल* प्रकाशित हुआ था, वह भी अच्छी-ख़ासी उपेक्षा का शिकार हुआ था। उस पर आलोचकों ने जिस नासमझी के साथ हमला किया था, उससे भी मलयज कम हतोत्साहित नहीं हुए थे। मलयज के मित्र शिवकुटीलाल वर्मा ने इस प्रसंग के बारे में लिखा है कि इन बुरी समीक्षाओं ने मलयज की ''इस रही सही आशा को भी खंडित कर दिया कि भौतिक रूप से उपलब्धि शून्य रखने पर भी उनकी कविताएँ उन्हें वह अंडरस्टैंडिंग दिलाने में समर्थ होगीं, जो किसी रचनाकार की मौलिकता के धनात्मक विकास के लिए ज़रूरी होती है और जो उसके भौतिक गैप को किसी सीमा तक पार कर सकती है।''

दिल्ली में मलयज को एक बड़ा साहित्यिक परिवेश मिला। यहाँ गतिविधियाँ तो ज़्यादा थीं ही, साहित्य जगत के अंतर्विरोध और पाखंड भी ज़्यादा थे। इसके

साथ-साथ बड़े शहर में भौगोलिक दूरियाँ, गति, भाग-दौड़, यांत्रिक क़िस्म का जीवन, अजनबीपन, थकान और ऊब भी कहीं ज़्यादा थी। मलयज 5 अक्तूबर 1964 ई. की अपनी डायरी में लिखते हैं, ''महानगरी की गति व्यक्ति को इतनी फ़ुर्सत नहीं देती कि वह आत्मस्थ हो सके। अपने को रुककर पहचान सके, टटोल सके, अपना हो सके। 'अति' की स्थिति में व्यक्ति समाज से बिलकुल कटकर अपने व्यक्तिमन की निबिड़ कोटर में भी पड़ा रह सकता है, पर यह प्रतिक्रिया का अतिवादी छोर है।''

दिल्ली में मलयज ने कभी भी स्वयं को मुक्त अनुभव नहीं किया। यद्यपि प्रेमलता का डॉ. फ़र्नेन्दो से और निर्मला का दूधनाथ सिंह से विवाह हो चुका था पर फिर भी घर की ज़िम्मेदारियाँ कम नहीं हुई थीं। नौकरी का बेरहम संसार, सीमित तनख़्वाह में एक बड़े परिवार का भरण-पोषण, बीमार माँ, बूढ़े और लाचार पिता, छोटे भाई-बहनों और बच्चों की ज़िम्मेदारियाँ, दैनिक संघर्ष, भाग-दौड़, हारी-बामारी और सबकी ज़रूरतों के बीच किसी तरह गुज़र-बसर और इस सबके बीच अपना आपा सँभालने और सर्जनात्मकता से जुड़े रहने की जद्दो-जहद, गिरता हुआ स्वास्थ्य। मलयज अकेलेपन और व्यर्थता बोध के एहसास में लगातार घिरते जा रहे थे। उनमें एक एलियनेशन बढ़ता जा रहा था। एक औसत निम्न मध्यवर्गीय लेखक का नरम उनके चारों ओर था। उनकी डायरी के बहुत कम पृष्ठ ऐसे होंगे, जिनमें उनकी यह शाश्वत थकान, उदासी और मानसिक क्लेश व्यक्त न होता हो। अपने व्यक्तिगत जीवन की ज़िम्मेदारियों और सर्जक की आकांक्षा बीच लगातार चलने वाले एक भयावह द्वंद्व में वे फँसे-फुसे हुए थे। 24 दिसंबर 1977 ई. की डायरी में वे लिखते हैं, ''घर का घरेलूपन और उससे जुड़े हुए कर्तव्य और सीमाएँ मेरे और मेरी एकाग्रता के बीच छा जाते हैं, मैं दोनों के बीच क्यों एक अभेद दीवार बनाए रखना चाहता हूँ? मैं क्यों अपनी रचनात्मक स्फूर्ति में सिर्फ़ एक सौन्दर्य की कुनकुनाहट सुनना चाहता हूँ, घरेलूपन में बसे हुए मध्यवर्गीय जीवन के दहाड़ते हुए शोर को क्यों नहीं? अपने रचनात्मक क्षण में मैं क्यों अपने मध्यवर्गीय अस्तित्व की सतत चुभती हुई कीलों को भूल जाना चाहता हूँ? जिन सवालों से मैं बिंधा हुआ हूँ, उन्हें क्यों दरगुज़र कर देना चाहता हूँ?''

लेखन कर्म मलयज के लिए अलग-अलग अर्थ देता था। कभी यह एक युद्ध था तो कभी एक शरणस्थली। वे बाहर की दुनिया से टूटकर लौटते थे और लेखन के भीतर छिप जाना चाहते थे। कई बार इससे वह आंतरिक दुनिया भी नहीं बन पाती थी। बाहर के ख़ूनी पंजों के निशान उनके एकान्त और सुकून पर पड़ते थे। अपने मिसफ़िट होने का यह एहसास बाज़ वक़्त अपने सीमित अस्तित्व और निजता की सीमाओं को तोड़कर उससे ऊपर नहीं उठ पाता था। दुनियादारी न होने का एक अपराध-बोध उन्हें अक्सर घेरे रहता था। यह इतना मारक आत्मनिर्वासन था

कि शब्दों की दुनिया की तसल्ली भी तब उनके साथ नहीं होती थी। अपने किए हुए पर एक गहरा संशय, अकेले पड़ जाने का भय, असफलता का दंश और आत्महीन होने की इस पीड़ा को उन्होंने इन शब्दों में लिखा है, ''बाहर की भीड़-भाड़ पर, दफ़्तर में, बस में हर कहीं भीड़ से परेशान आदमी जब घर में भी घर की जंगली भीड़ में घिरता है, तब अपने कमरे को दूसरों की छोटी-छोटी असुविधाओं की ज़बरन अवहेलना कर, भीतर से बंद कर, चार दीवारों से घिरे स्पेस को एकांत का रूप देना चाहता है, यानी जाली नोट बनाता है जो चलता नहीं। बिस्तर पर हताश गिरे हुए उसके शरीर की तरह स्थिर रहता है, मेज़ पर रखी हुई क़लम और काग़ज़ के पन्ने उससे इतने दूर रहते हैं कि वह हाथ बढ़ाकर उन्हें उठा भी नहीं सकता।''

मलयज बाहर और भीतर की इस नीच ट्रैजिडि के दो पाटन के बीच फँसे हुए थे। वे लिखते थे, क्योंकि और कोई विकल्प नहीं था। लिखते थे और लिखने के कुल कर्म को लेकर एक बुनियादी व्यर्थता-बोध से भी घिर जाते थे। यह डूब-डूबकर उबरने के लिए हाथ-पैर मारने जैसा था। उन्हें सार्थकता के किसी केन्द्र की तलाश थी। एक भागती हुई दुनिया में गंदगी, भीड़, श्रम, थकान, यांत्रिकता ज़िम्मेदारियों और बौद्धिक गपशप के बीच आवेग, किसी ऊर्जा, किसी पवित्रता, किसी स्फुरण की खोज थी, लेकिन दूसरी ओर खीझ, अहम् चेतना और आत्मदया के थपेड़े कम नहीं हो रहे थे, मलयज के भीतर सिनिसिज़्म का एक लंबा दौर चलता था। यह एक भयानक क़िस्म का जीवन था, जब आप न बाहर भाग सकते हैं; और न भीतर। कुल मिलाकर यह जीवन से एक सीधा, बेरहम और डरावना साक्षात्कार था। डर मलयज का स्थायी भाव बनता जा रहा था।

दिल्ली में मॉडल टाउन या लाजपतनगर में लगभग प्रतिदिन ही मलयज शमशेर, त्रिलोचन, विश्वनाथ त्रिपाठी आदि की मित्र-मंडली में शामिल होते थे। गपशप, संस्मरणों और बहसों का एक अनंत सिलसिला था। लेकिन इस सबकी बाहरी पर्त को तोड़कर मलयज जब-तब अपनी डायरी में अपने भयावह और दारुण अकेलेपन का ज़िक्र करते हैं तो हम पाते हैं कि उनके आस-पास कोई ऐसा नहीं था, जो इस तनाव में उनके साथ हिस्सेदारी कर पाता। ''जो मुझमें घट रहा है, वह कोई दूसरा लिखता तो अच्छा रहता। जो घट रहा है, वह अभी स्मृति नहीं बना है। स्मृति में जो चीज़ चली जाती है, उसे पकड़ना आसान है, साक्ष्य है। मैं अपने आपसे मुक्त नहीं हूँ। मैं बीच में हूँ। शब्द किनारे पर।'' साहित्य, घर, परिवार, मित्रों और सामाजिक संबंधों की दुनिया में कोई ऐसा नहीं था, जो बाहरी पर्तों को भेदता हुआ उनके इस आंतरिक संसार में आकर उनसे मिलता, जहाँ व्यक्ति सिर्फ़ 'बौद्धिक' नहीं है; पति, पिता, पुत्र या भाई नहीं है; पड़ौसी या केवल मित्र नहीं है। 'व्यक्ति' की इस जटिल सत्ता को मलयज ने एक बदलते हुए समय की धड़कनों के साथ महसूस किया था और उसे शब्द देने चाहे थे। वे धुंधलके में घिरे इस औसतपन को पहचान रहे थे। यह शायद

अर्थपूर्ण था या यह बिलकुल अर्थपूर्ण नहीं था। मलयज निश्चित नहीं थे। वे घिरे हुए थे। रेशनलिटी कभी साथ देती थी, कभी बिलकुल नहीं। लेकिन यह जैसा भी अनुभव था, यह उनके लिए पुरानी पीढ़ी वाला महज 'भोगा हुआ यथार्थ' नहीं हो सकता था। मलयज बार-बार इस बात को कहते रहे थे कि जो भोगा है सिर्फ़ उसे लिख देना ही पर्याप्त नहीं है, यह ऐसी नितांत साधारणता है, जिसमें किसी प्रकार के महिमामंडित बिम्ब या आदर्श वाक्य की गुंज़ाइश नहीं रह गई है। वे भीतर और बाहर के इस क्राइसिस को, उसके तात्त्विक विवेचन को किसी केन्द्रवर्ती दृष्टि से जोड़ना चाहते थे; और इस तरह मलयज दिल्ली में सत्तर के दशक के इलाहाबाद के अपने पुराने परिमलीय दिनों से बहुत दूर आ चुके थे। उन्होंने जो लंबे-लंबे पत्र रमेशचंद्र शाह को लिखे हैं, वे इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। रमेशचंद्र शाह और मलयज के बीच लगभग 13 वर्षों तक चला यह अंतरंग पत्राचार न सिर्फ़ मलयज की जीवन-यात्रा के छोटे-बड़े परिवर्तनों की गवाही देता है, बल्कि वह साठ और सत्तर के दशक के सामाजिक हालात, उनसे जन्मे मनोविज्ञान और संवेदनात्मक अनुभवों की भी एक गहन अंतर्यात्रा को खोलता है। दो मित्रों के बीच हुआ यह पत्राचार व्यक्तिगत होकर भी व्यक्तिगत नहीं है। मलयज को गुज़रे दो दशक हो चुके हैं। इन दोनों मित्रों के बीच हुआ यह सारा पत्राचार अब छपना चाहिए। अभी तक यदि यह पूर्णतः प्रकाशित नहीं हुआ है तो यह आश्चर्य की बात है।

भौतिक स्तर पर इस बीच मलयज के जीवन में जो कुछ घट रहा था, वह औसतन हर निम्न मध्यवर्गीय भारतीय लेखक का अपना नरक है। जुलाई 1978 ई. में उनकी माता गंभीर रूप से अस्वस्थ हुई। उन्हें लकवा मार गया था। वे धीरे-धीरे मूक होती गईं। तंगी, घुटन और डिप्रेशन के जीवन में यह एक नई विपदा थी। पिता पहले से कहीं अधिक भाव शून्य और निर्लिप्त होते जा रहे थे। माँ से मलयज की गहरी अनुरक्ति थी। माँ के अस्पताल जाने, उनकी शारीरिक और मानसिक पीड़ा को देखने, उनके क्रमशः क्षरित होते जाने के छोटे-छोटे विवरणों से मलयज की डायरी भरी हुई है। इस डायरी में दांपत्य संबंधों की जटिलता, दफ़्तर के जीवन के भय, साहित्य समाज में मित्रों के प्रति होते मोहभंग और लगातार अपने अकेले और असुरक्षित होते जाने की मनोदशाएँ दर्ज हैं, बीमारी और तनावों के बीच एक अति संवेदनशील बौद्धिक का भय, बिखराव, आशंका और थकान और इस सबके बावजूद उसकी जीवन-आकांक्षा साहित्य का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। उनमें अपराध-बोध भी है और अपने ईमानदार होने का गर्व भी। वे बार-बार हारते हैं और फिर दोबारा अपने प्रतिरोध को जुटाते हैं। यह सिलसिला चलता रहता है। मलयज की डायरी में ये सारे विवरण नितांत व्यक्तिगत होते हुए भी व्यक्तिगत नहीं लगते। उसमें एक मानसिक और आर्थिक विपत्ति में फँसे एक प्रखर बौद्धिक की मर्मान्तक छटपटाहट है। एक लेखक के मृत्यु का निरीह ग्रास बनते जाने की अंतर्कथा है।

जनवरी 1975 ई. से दिसंबर 1981 ई. तक मलयज ने अपने इस भीषण मानसिक उद्वेलन की अलग से एक गोपनीय डायरी भी लिखी थी, जिसे उन्होंने 'लाल डायरी' कहा। इसे वे सबकी नज़रों से छिपाकर लिखते थे और यह दफ़्तर में ही रहती थी। इसमें अपने हारते जाने, उसे स्वीकारने, अपने राग-द्वेषों को बेलाग ढंग से व्यक्त करते और तनाव मुक्त होने की एक छटपटापहट है। ग़ौरतलब है कि मलयज अपने राग-द्वेषों को व्यक्त करते हुए भी उसे दूसरों से छिपाना चाहते थे, क्योंकि वे चाहते थे कि इससे दूसरों के प्रति अन्याय न हो। यह एक आत्म-स्वीकृतियों की डायरी है। इन वर्षों में मलयज मानसिक रूप से पूरी तरह एक 'अंडरग्राउंड' जीवन जी रहे थे। पिकासो ने एक जगह कहा है, "कला आत्मा पर से हर रोज़ के जीवन की धूल को झाड़ देती है।" ग़ौरतलब है कि इतने सारी व्यक्तिगत क़िस्म की बाधाओं के बीच भी मलयज का साहित्य से, कला से, कविता से लगाव वैसा ही बना हुआ था। ये उनके लिए 'बाहरी' चीज़ें थीं ही नहीं। रोज़-रोज़ अपने मानसिक उद्वेलनों को वे जी ही नहीं रहे थे, उन्हें देखने, विश्लेषित करने और शब्दबद्ध करने की उनकी एक आश्चर्यजनक तटस्थता और ऊर्जा भी इस दौर में दिखाई पड़ती है। हालाँकि मलयज ने स्वयं ही एक जगह लिखा है, "अभिव्यक्ति के मामले में शब्द स्वयं एक बाधा है।"

यह भी ग़ौरतलब है कि 1975 से 1980 ई. के इन वर्षों में मलयज अशोक वाजपेयी, *पूर्वग्रह* और भारत भवन, भोपाल के कार्यक्रमों से अभिन्न रूप से जुड़े हुए थे। वहीं दूसरी ओर उनमें मार्क्सवाद, विचारधारा, सामाजिक संघर्ष और यथार्थ के वस्तु जगत रूप के प्रति एक रुझान बढ़ता जा रहा था। सन् 1982 ई. के आसपास दिल्ली में जब 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना हुई तो मलयज की उसमें गहरी दिलचस्पी थी। इमरजेंसी के बाद के वर्षों में जिस तरह की राजनीतिक मुहावरेबाज़ी से दूर शांत और निरुद्वेग क़िस्म की कविता की शुरुआत हुई थी, उस पर भी उनकी सतर्क निगाह थी। यदि उन्हें जीने के लिए कुछ और वर्ष मिलते तो इस बदलते हुए दौर पर भी उनका कुछ सार्थक और मूलगामी लेखन सामने आता, पर ऐसा नहीं हो सका।

सितंबर 1980 ई. में मलयज की माता का एक लंबी और पीड़ादायक बीमारी के बाद निधन हुआ। मलयज शारीरिक और भावनात्मक स्तर पर लगभग ध्वस्त हो चुके थे। जीवन के अंतिम वर्षों में वे उच्च रक्तचाप और दमे से पीड़ित थे। 26 अप्रैल 1982 ई. को 47 वर्ष की आयु में उन्होंने अंतिम साँस ली।

शमशेर ने उनके बारे में लिखा है, "जैसी परिस्थितियाँ थी, उन्हें देखते हुए फिर भी कहूँगा कि उन्होंने काफ़ी खींचा।"

अपनी मृत्यु के 17 दिन पहले 9 अप्रैल 1982 ई. को उन्होंने आख़िरी बार अपनी डायरी में कुछ लिखा था और यह एक कविता थी। इस कविता की कुछ

पंक्तियाँ हैं—

लिखो तभी जब संकट में हो
चीज़ें जब सब हिली हुई हों
ज़मीन सरकी हुई थिर कुछ भी नहीं
एक सांस भीतर एक बाहर बीच में
हलचल जिसमें कोई तरतीब नहीं
बक्से उलट दिए गए चीज़-बस्ता बाहर
एक खुलापन जिसे सब घूर सकें
एक नंगापन जिसमें देख सकें सब
अपने दुखी कुछ विकृत चेहरे

× × ×

लिखो वह संबंध जो संकट से बचा हो।

□

मलयज की आलोचना का परिप्रेक्ष्य

मलयज सातवें और आठवें दशक के हिन्दी साहित्य के आलोचना परिदृश्य में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलोचक के रूप में उभरे थे। उनकी आलोचना पुस्तक *कविता से साक्षात्कार* में 1963 ई. से 1975 ई. के बीच लिखे उन्नीस निबंध संकलित हैं, जिनमें सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना समीक्षा है। इसके अलावा *संवाद और एकालाप* नामक उनके वैचारिक निबंधों की एक और पुस्तक उनके निधन के बाद 1984 ई. में प्रकाशित हुई है, जिसमें निबंधों के अलावा पत्र और कुछ टिप्पणियाँ संकलित हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर भी मलयज का एक स्वतंत्र अध्ययन *रामचंद्र शुक्ल* शीर्षक से 1987 ई. में प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा समय-समय पर लिखी गई डायरी और पत्रों से भी मलयज की समीक्षात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। ये सब चीज़ें मलयज की आलोचना के एक विशेष परिप्रेक्ष्य को बनाती हैं। जिस दौर में मलयज साहित्यिक परिदृश्य पर सक्रिय थे, वह एक बड़ी उथल-पुथल और संक्रमण का दौर था।

सन् 1964 ई. में नेहरू के अवसान के बाद भारत के राजनीतिक-सामाजिक परिवेश में एक युग का समापन होता है। इसी के साथ हमारे सामाजिक जीवन में वह दैन्य और अंतर्विरोध भी खुलकर सामने आ जाता है, जो नेहरू के विराट व्यक्तित्व और उस युग के मोहक आदर्शों और भविष्य के सपनों के पीछे कहीं दबा-ढका हुआ था। नेहरू युग में यह दैन्य और अंतर्विरोध पूरी तरह उजागर नहीं हुआ। साठ का दशक इन अर्थों में राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी एक गहरे मोहभंग और उससे उपजी हताशा का दशक है। इसने अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया। नेहरू के अवसान के साथ ही भारतीय सामाजिक जीवन में वह केन्द्रीयता भी समाप्त हो जाती है, जिसने तमाम तरह की विषमताओं, विभक्तियों और अंतर्विरोधों को दबा रखा था। नेहरू युग के अवसान का अर्थ उच्च प्रौद्योगिकी, भारी निवेश पर आधारित संयंत्रों और विशाल नौकरशाही पर आधारित विकास के मिथक का टूटना भी है। इसी के साथ भारत के शहरी और ग्रामीण जीवन-शैली के बीच फैला भयावह अंतराल, आय की असमानताएँ, जातीय और सामुदायिक चेतनाओं के

अंतर्विरोध, मूल्यविहीन राजनीति में परस्पर टकराते हितों का विद्रूप और उसकी नाटकीयता बड़े मुखर रूप से सामने आती है।

आर्थिक विषमताओं के साथ ही सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक विपन्नता का भी एहसास साठ के दशक में बहुत तीखा हो चला था। बेमेल विकास से उपजी विषम स्थितियों ने एक व्यापक समाज को किसी भी उच्चतर जीवन-मूल्य से विरत कर केवल अपने अस्तित्व रक्षा के संघर्ष तक ला छोड़ा था। मुट्ठी भर लोगों का ऐश्वर्यशाली जीवन और एक व्यापक जन समाज में असुरक्षा, लाचारी, असंतोष और कुंठा की मनस्थितियाँ बन रही थीं। साठ का दशक एक असंतुलित औद्योगिक विकास और एक खोखली हो चुकी प्राचीन संस्कृति के अवज्ञापूर्ण प्रतिरोध को सामने लाता है। यह दशक एक तदर्थवाद की राजनीति और सामाजिक असुरक्षा का दशक बनकर भी उभरा था। संक्रमण के दौर में सबसे पहले पुराने मिथक टूटते हैं और जनसमाज में भावबोध के स्तर पर एक अस्पष्टता और शून्य पैदा होता है। अवधारणाओं और उनके वास्तविक अर्थों के बीच अंतराल बढ़ता जाता है।

इस पृष्ठभूमि में यदि हम मलयज की आलोचना को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साठ के दशक में मलयज की आलोचना इसी सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण और अंतराल के बीच अपनी विशिष्ट संवेदना और मूल्य दृष्टि को उपलब्ध करती है।

मलयज की यात्रा का आरंभ नई कविता के आंदोलन के बीच से हुआ था। पचास के दशक में वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र थे और इलाहाबाद शहर उन दिनों हिन्दी की नई कविता और आधुनिक चेतना का केन्द्र था। इलाहाबाद में 'परिमल' संस्था की गोष्ठियों और बहसों से नई कविता की सृजनशीलता और बौद्धिक विमर्श का एक नया धरातल उभरा था। नई कविता के सूत्रधार अज्ञेय थे। अज्ञेय वस्तुतः हिन्दी साहित्य में आधुनिकता बोध के जनक रहे हैं, उनकी सजग बौद्धिकता और सर्जनात्मक ऊर्जा ने हिन्दी के साहित्य में विमर्श में पहली बार रचनाकार की आत्म-सत्ता और निजता के बोध को एक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

नई कविता का आधुनिकता-बोध भारतीय समाज में आधुनिक समय के एक जटिल यथार्थ से उपजा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद पश्चिम में विकसित हुए अस्तित्ववाद, खंडित जीवन बोध, आत्मसत्ता के प्रति जागरूकता और नागर जीवन की संवेदनशीलता ने भी नई कविता के आधुनिक बोध को एक नया परिप्रेक्ष्य दिया था। नई कविता का आधुनिकताः बोध विरोधाभासों के समुच्चय से जन्मा था। इस आधुनिकता-बोध में एक तरफ वैज्ञानिक तर्कशीलता और प्रगति का मिथ था तो दूसरी ओर समाज की तात्कालिक विषम परिस्थितियाँ और उनसे उपजा तनाव था। यह एक नई तरह की अनुभूति थी। यह नया कवि मध्यमवर्गीय शहरी बौद्धिक था। वह न तो कृषि संस्कृति के साथ विकसित हुए पुराने आदर्शवाद में जी सकता था

और न वह सर्वहारा की क्रांतिकारी सोच से जुड़ पाता था। अनिर्णय, तनाव, विडंबना और विवशता-बोध उसके अनुभव के केन्द्र में थे। यह भारतीय समाज में एक नए, पढ़े-लिखे, मध्यमवर्गीय रचनाकार का यथार्थ था। उसे अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की खोज थी। नई कविता का आधुनिकता-बोध इसलिए विखंडित मनःस्थितियों का बोध बन गया था। व्यक्ति भीड़ में भी अकेला था। एक विशेष क्षण की सच्चाई को वह एक शाश्वतता के बोध से ज़्यादा तरज़ीह देता था; और यह क्षणवाद नई कविता में एक नारे की तरह उभरा। लघु मानव और विडंबना-बोध की महत्ता को इसी संदर्भ में एक नई सच्चाई के रूप में देखा गया था। अज्ञेय ने रचनाकार के लिए यथार्थ-बोध में चयनधर्मिता को सर्वोपरि माना था। वे कहते थे हमारे चारों ओर यथार्थ के नाम पर अनेक तथ्य हैं, लेकिन जो तथ्य हमारे अनुभव में ढलकर निकले केवल वही हमारा अपना अनुभव है, वही हमारा सत्य है। इस विचार-दर्शन ने नई कविता में अनुभव की प्रामाणिकता को एक सौन्दर्यमूल्य के रूप में स्थापित कर दिया।

नई कविता के सिद्धांतकार इस बात की पुरज़ोर वकालत करते थे कि साहित्य की एक अपनी स्वायत्तता है और रचनाकार किसी विचारधारा का पिछलग्गू नहीं है। दरअसल यह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में फैले शीतयुद्ध की राजनीति का एक भारतीय संस्करण था, जिसमें विचारधारा से तटस्थ रहने का यह आग्रह वास्तव में वामपंथी राजनीतिक विचारधारा से तटस्थ रहने का आग्रह था। लेखन की स्वतंत्रता और स्वायत्तता और आत्मनिष्ठा पर ही सारा आग्रह था। वामपंथी विचारधारा से तटस्थता का यह आग्रह एक सीमा के बाद वामपंथ विरोध में भी बदल जाता था। लेकिन यह नई कविता के एक खेमे की विचारधारा थी। नई कविता के ही भीतर दूसरी ओर मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह, भारतभूषण अग्रवाल और नेमिचंद्र जैन जैसे कवि थे, जो वामपंथी विचारधारा से जुड़े हुए थे और रचनाकार की राजनीतिक प्रतिबद्धता को केन्द्रीय महत्त्व देते थे।

मलयज की काव्य-दृष्टि और आलोचनात्मक समझ में नई कविता की राजनीति निरपेक्ष मध्यमवर्गीय सौन्दर्य-दृष्टि के आग्रह के समानांतर मुक्तिबोध और प्रगतिशील लेखक संघ की विचारधारा का भी प्रभाव शामिल हो रहा था। मुक्तिबोध लगातार अपने निबंधों और लेखन में इस बात का ज़ोर दे रहे थे कि रचनाकार की कोई भी सौन्दर्य रुचि अपने वर्ग से निरपेक्ष नहीं होती। वे रचनाकार के आत्मसंघर्ष के हिमायती थे। वे कहते थे कि इस आत्मसंघर्ष के द्वारा ही रचनाकार अपनी वर्गबद्ध सीमा से ऊपर उठकर एक व्यापक जनसमाज के यथार्थ से जुड़ सकता है और उसे जुड़ना चाहिए। मुक्तिबोध ने कहा कि नई कविता चूँकि मध्यमवर्ग के बौद्धिक द्वारा लिखी जा रही है, उसकी सौन्दर्य चेतना का बहुत सीमित अनुभव क्षेत्र है। उसमें अभिव्यक्ति के लिए विशेष विषय ही चुने जाते हैं। उसमें वस्तु जगत और भाषा के टकराव की जीवंतता अधिक नहीं है और सारा ज़ोर मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति

और शब्द रूप पर होकर रह गया है। कविता एक रूपवादिता की ओर चली गई है।

पचास का दशक बीतते-बीतते नई कविता का रोमांटिक सौन्दर्यबोध और उसके आधुनिकतावाद से प्रेरित सिद्धांत फ़ीके पड़ने लगे थे। लगभग एक दशक तक नए कवि के यहां सारा ज़ोर ऐसे भोगे हुए यथार्थ पर था, जो बाहरी तथ्य से चलकार अनुभव में अंटने वाले सत्य तक पहुँचा हो। लेकिन बाह्य जीवन की परिस्थितियों और कवि की सौन्दर्य चेतना के बीच एक अंतराल बढ़ता जा रहा था। कविता में अनुभव की एक रूढ़ि-सी बन गई थी। अभिव्यक्ति का एक बँधा-बँधाया रूप निर्धारित हो गया था।

मलयज के सामने एक ओर अज्ञेय की सौन्दर्य-दृष्टि थी तो दूसरी ओर मुक्तिबोध की चिन्ताएँ और बेचैनियाँ थी। मलयज बदलते हुए समय के अनुभव के एक आलोचनापरक अध्ययन की ओर बढ़ रहे थे। वे विचार और कलाकार के आपसी संबंधों की जटिलताओं को समझना चाहते थे। मलयज की आलोचना-दृष्टि का मूल आधार यह था कि अंतर्मन की स्थिति को अपने समय के ठोस ऐतिहासिक संदर्भों की रोशनी में विश्लेषित किया जाए। वे मानते थे कि रचना में बाहर और भीतर के संधि-स्थलों को देखा जाना चाहिए। रचनाकार के व्यक्तित्व पर पड़नेवाले विभिन्न दबावों को खोलते हुए ही अर्थ की अनेक स्तरीयता को समझा जा सकता है। मलयज ने कहा कि कलाकार व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों को समझा जाना ज़रूरी है। कला में विरुद्धों के सामंजस्य से जन्मी सौन्दर्य-दृष्टि के महत्त्व को प्रतिपादित किया जाना चाहिए। विचार और ऐन्द्रिकता के रहस्यों को भी खोला जाना चाहिए। रचनाकार की बुनियादी ईमानदारी और अंतर्निष्ठा को उसके अभिव्यक्ति रूपों और उसकी संरचना के माध्यम से समझना आवश्यक है।

हिन्दी आलोचना के युग-पुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि से भी मलयज ने काफ़ी कुछ हासिल किया था। आचार्य शुक्ल उनके आदर्श थे। काव्य में रहस्यवादिता के विरोध की शुक्ल जी की दृष्टि को मलयज ने अपने समय में एक नए संदर्भ में रखा। उन्होंने कलावादी अमूर्तन के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। शुक्ल जी की तरह ही मलयज सक्रांतिकालीन समय में परस्पर विरोधी और संघर्षरत शक्तियों के दबाव को पूरी वस्तुनिष्ठता के साथ देख रहे थे। निराला, मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह, निर्मल वर्मा, त्रिलोचन, विजयदेव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा आदि अपने समय के अलग-अलग रचना-व्यक्तित्वों पर लिखते हुए उन्होंने एक समूचे युग के मानचित्र को बनाया है। शुक्ल जी की तरह ही मलयज का सौन्दर्य-बोध औसत हिन्दुस्तानी यथार्थ में रमता है। उसमें घर-गृहस्थी, पारिवारिक मूल्य और साधारणता के सौन्दर्य की वकालत है। इसमें जन-जीवन से एक ऐन्द्रिक लगाव है, साथ ही बौद्धिक सजगता भी। ईमानदारी, सादगी, पारदर्शिता,

निर्भीकता और प्रतिलोम होने के साहस को मलयज साहित्य में एक मूल्य की तरह रखते हैं। वे प्रचलित सौन्दर्य-रुचियों की राजनीति को विश्लेषित करते हैं। वे आत्मानुभूत को सर्वानुभूत तक लाने की वकालत करते हैं। मलयज शुक्ल जी पर लिखते हुए उनमें स्मृति और घटित का युग्म देखते हैं। उन्होंने शुक्ल जी की सौन्दर्य-दृष्टि पर टिप्पणी की है, "जो साधारण और सर्वानुभूत है, वही विशिष्ट और समग्र है। इसके बरक्स जो निरा विशिष्ट है, वह खंडित और अपूर्ण है।" यही बात मलयज की सौन्दर्य-दृष्टि पर भी लागू होती है।

साठ के दशक में साहित्य में जो नई पीढ़ी उभर रही थी, उसके सामने आदर्शों की कोई प्रवंचना नहीं थी। उसके सामने एक निपट नंगा यथार्थ था। साठ के दशक में युवा पीढ़ी के रूप में आक्रोश, कुंठा, हताशा और चीत्कार का जो साहित्य उभरा उसने नई कविता युग के आत्म-सत्य के वैभव को लगभग ध्वस्त कर दिया। नई कविता के कवि के पास बाहर की विषमता से टकराने के लिए आत्म-बोध था। यह उसकी शरणस्थली था। पर साठ के दशक तक आते-आते युवा कवि के लिए आत्म-बोध का मामला विशुद्ध भौतिक अस्तित्व के संकट की चिन्ता में बदल गया। संत्रास, भय, अनास्था और असुरक्षा युवा पीढ़ी की संवेदना के केन्द्रीय तत्त्व बन गए। यह एक उग्र और असंयत आक्रोश का साहित्य था। युवा पीढ़ी की टूटन बेबाक थी, बेपर्दा थी। उसमें एक खुलापन था। मलयज साठ के दशक के इस नए रचनात्मक अनुभव के आलोचक हैं। वे उसकी गुणधर्मिता और जटिलता को अनेक स्तरों पर व्याख्यायित करते हैं। मलयज इस नए साहित्य के मनोविज्ञान और उसके अनुभव रूपों के आलोचक हैं। अपने अनेक सैद्धांतिक निबंधों के अलावा उन्होंने व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी हैं। वे रचनाकार के अनुभव की बुनावट से गुज़रते हुए उसके मूल्य बोध का विश्लेषण करते हैं। उनका यह कार्य हिन्दी आलोचना के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान-बिन्दु बनकर उभरा है।

साठ के दशक के युवा लेखन के कई रंग हैं। एक तरफ़ अनास्था, विद्रोह और अराजकता से भरी अकविता का स्वर है तो दूसरी ओर नक्सली आंदोलन की पृष्ठभूमि में पनपी वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध गुस्सैल राजनीतिक कविता का स्वर है, जो यथास्थिति के विरुद्ध जनक्रांति का आवाहन करना चाहती है और उन तमाम मुश्किलों से पेश आती है, जो भारतीय समाज की अंतर्विरोधी स्थितियों से पैदा होती हैं।

साठ के दशक में जिस प्रकार का विद्रोह और आक्रोश से भरा हुआ युवा लेखन आया, उसे मलयज विभिन्न स्तरों पर समझने-विश्लेषित करने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि मोहभंग के बाद जो लेखन उभरा है, वह भविष्यवाद से विरत लेखन है। यह सीधे-सीधे अपने वर्तमान से मुख़ातिब लेखन है और इसमें अपने अस्तित्व बोध की एक तीक्ष्ण तात्कालिकता है। यह वर्तमान को उसके विस्फोटक रूप में रखता

है। यहाँ अनास्था और विक्षोभ के स्वर में आत्म-मर्यादा का वैभव नहीं, बल्कि अनुभूति के आवेग और तात्कालिकता से झुलसा देनेवाला दाह है। बिम्बों और प्रतीकों के बजाय भाषा में एक सपाट बयानी है। परिस्थितियों का दवाव रचनाकार के संवेदन तंत्र पर इस तरह से पड़ा है कि समसामयिकता और रचनाकर्म के बीच एक सीधा रिश्ता बना है। एक ओर रचनाकार को पूर्ववर्ती सौन्दर्य-दृष्टि और साहित्यिक प्रतिमान झूठे लगने लगे हैं, वहीं दूसरी ओर उसके सामने एक विकल्पहीनता की स्थिति है। एक ओर जहाँ रचनाकार अपने को अपने समय के राजनीति-आर्थिक-सामाजिक घटनाचक्र में प्रतिपक्ष की भूमिका में पाता है, लेकिन उसके पास अपने इस घोर वर्तमान का अतिक्रमण कर जाने की कोई सुविधा नहीं है। पहले की कविता में जहाँ आधुनिक जीवन-दृष्टि कवि की मूल चिन्ता थी। वहीं बदले हुए परिवेश में कवि के लिए सबसे अहम् बात वर्तमान व्यवस्था का निषेध है। राजनीति लेखन की पृष्ठभूमि में नहीं, उसके केन्द्र में आ गई है।

मलयज की युवा लेखन की भावभूमि से गहरी सहानुभूति थी, पर साथ ही उनके कुछ अपने बुनियादी संशय भी थे। यद्यपि अपनी आलोचना में उन्होंने साठ के दशक के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास पर विस्तार से टिप्पणियाँ नहीं की हैं, पर जहाँ कहीं भी इसका उल्लेख किया है, वह सारगर्भित है और हिन्दी आलोचना में एक नई दृष्टि के विकसित होने की ओर स्पष्ट संकेत करता है। *कविता से साक्षात्कार* पुस्तक में 1970 ई. का लिखा उनका निबंध 'पिछले दशक के युवा लेखन के बारे में कुछ मूलभूत बातें' साठ के दशक के रचनाकार की परिवर्तित भावभूमि के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को रेखांकित करता है। मलयज कहते हैं कि पिछले दशक में "हमारी जीवन-प्रक्रिया तेज़ हुई है और इससे सृजन प्रक्रिया में कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए हैं।" मलयज नेहरू युग की समाप्ति को व्यक्ति के निर्वासन की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। साठ के दशक का युवा लेखन व्यापक सामाजिक, आर्थिक प्रक्रिया में एक युवा पीढ़ी के निर्वासित और अर्थहीन होते जाने की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है। वे कहते हैं कि "व्यक्ति के निर्वासन की धारणा को हिन्दी में अभी तक प्रायः समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के चश्मे से देखा जा रहा है, सृजनात्मकता के संदर्भ में इस पर विचार लगभग नहीं के बराबर हुआ है—जो कुछ हुआ है, वह भी समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के साहित्य उच्छिष्ट के रूप में।"

मलयज कहते हैं, "नेहरू युग की राजनीति आशावाद से ग्रस्त एक ऐसी राजनीति थी, जिसके पैर यथार्थ पर कम स्वर्णिम मानव-भविष्य के स्वप्न पर अधिक टिके थे। ऐसी आदर्शवादी राजनीति का अंत यदि मोहभंग में हो तो कोई आश्चर्य नहीं...नेहरू युग का साहित्य इसी शानदार मोहभंग का साहित्य है। इसके विपरीत नेहरू युग के बाद की राजनीति आम आदमी की राजनीति है।...जिस राजनीति के अंतर्गत न्यूनतम कार्यक्रम का फ़ंडा पार्टी सिद्धांतों के चिथड़े को सिलकर बनाया गया हो, वहाँ मोहभंग

की गुंज़ाइश रह ही नहीं जाती...पिछले दशक का साहित्य बुनियादी तौर पर इस स्थिति के कटु स्वीकार और उससे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का साहित्य रहा है।''

मलयज साठ के दशक के रचनाकार की संवेदनाभूमि के बारे में यह भी महत्त्वपूर्ण मुद्दा उठाते हैं कि इस दशक में उभरी युवा पीढ़ी के पास बाहर की कठिन परिस्थितियों से त्रस्त होकर अपने भीतर की दुनिया में कोई शरणस्थली खोज लेने की सुविधा भी नहीं थी। उसका बाहर और भीतर दोनों एक हद तक नष्ट हो चुका था। यह कुल मिलाकर सर्जनात्मक व्यक्तित्व के क्षरण का हवाला देनेवाला साहित्य है। रचनाकार विकेन्द्रित है। 'अपने परिवेश के तीव्र लगाव और किसी केन्द्र स्थान का न होना' युवा रचनाकार को एक अभूतपूर्व स्थिति में ला छोड़ता है।

साठ के बाद हिन्दी में उभरी इस नई रचनाशीलता से जुड़ी कुछ जटिलताओं को मलयज ने अपनी आलोचना का परिप्रेक्ष्य बनाया है। 'युवा लेखन के बारे में कुछ मूलभूत बातें' शीर्षक निबंध में ही वे कहते हैं, ''समकालीन जटिल परिवेश का तीव्र एहसास और सर्जनात्मक धरातल पर उसी चुनौती को फलीभूत न कर पाने की स्थिति में ही अक्सर सरलीकरण की प्रवृति पनपती है, जिसका विघटित रूप संवेदना और भाषा दोनों के ही फ़ामूर्लाबद्ध हो जाने में दिखाई देता है...आज की ज़्यादातर कविता को 'नर्वस डैबिलिटी' की कला कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।'' वे पूछते हैं कि आज न सिर्फ़ अधिकांश लेखन, बल्कि विद्रोह की मुद्राएँ भी क्यों शाब्दिक लगती हैं। इसलिए नहीं कि उनके पीछे अनुभूति की प्रामाणिकता नहीं है या वह भोगे हुए यथार्थ से नहीं उपजा है, बल्कि इसलिए कि संवेदना और उसकी धारण भाषा के बीच कार्यरत तनाव ढीला पड़ गया है या बिखर गया है।

मलयज युवा लेखन के ऐतिहासिक महत्त्व को तो स्वीकार करते हैं, पर इस लेखन के साथ अपनी कुछ मूलभूत शंकाओं को भी रखते हैं। यह शंका युगीन परिस्थितियों और लेखन कर्म के बीच उभरती नई क़िस्म की फाँक को लेकर है। यह चिन्ता अनुभव के सरलीकरण की समस्या को लेकर भी है। वे कहते हैं, ''युवा पीढ़ी ने अपनी विशेष और अद्वितीय ऐतिहासिक स्थिति के कारण वह कुछ कर दिखाया है—चाहे वह यथार्थ को बिना लाग-लपेट के चित्रण हो, सेक्स और राजनीति हो अथवा आडंबरहीन प्रत्यक्ष संवेदनों से उत्पन्न ग़ैर-रूमानी भाषा-प्रयोग, वह पूर्व पीढ़ी और बिचली पीढ़ी के बूते के बाहर था...पर जिस तरह से यह विद्रोह और आक्रोश धीरे-धीरे चीख़ और हुल्लड़ के एक पैटर्न का रूप अख़्तियार करता गया है—इस हद तक कि कुछ लोग भाषा और संवेदन के अवमूल्यन की बात करने लगे हैं—उससे यही लगता है कि उस ऐतिहासिक भूमिका में पड़ जाने के बाद उसकी नियामक जीवन-प्रक्रिया के साथ गहन स्तरों पर तो युवा लेखन बराबर चलता रहा, किन्तु सृजन-प्रक्रिया कहीं पीछे पड़ती चली गई। सृजन-प्रक्रिया के मंद पड़ जाने के कारण ही विद्रोह और आक्रोश झूठा पड़ने लगा है।''

सृजन-प्रक्रिया का यह महत्व हर जगह मलयज की आलोचना-दृष्टि के केन्द्र में है। युवा लेखन से पूरी सहानुभूति रखते हुए भी वे सृजन प्रक्रिया के महत्त्व पर कोई समझौता करने को तैयार नहीं है। वे कहते हैं, "ग़ैर-ज़िम्मेदार लेखन के मूल में भी जीवन-प्रक्रिया और सृजन-प्रक्रिया के बीच के अंतराल का एहसास ही है।...ग़ैर-ज़िम्मेदार लेखन सृजनात्मक दृष्टि से विकेन्द्रित या स्वचालित लेखन होता है। ग़ैर-ज़िम्मेदार लेखन अप्रासंगिक होते हुए भी अप्रामाणिक नहीं है। अप्रासंगिक इसलिए कि उसके आधार पर किसी स्पृहणीय सृजन मूल्य की कसौटी नहीं निर्धारित की जा सकती और अप्रामाणिक इसलिए नहीं, क्योंकि उसमें जीवनानुभवों का दबाव प्रतिपल महसूस होता रहता है।" इस प्रकार मलयज युवा लेखन की विभिन्न श्रेणियों और उसकी गुणवत्ता का बारीक विश्लेषण करते हैं।

रचना व्यक्तित्व के क्षरण की समस्या के साथ-साथ काव्यभाषा के इकहरेपन और सर्जनात्मक तनाव की समस्याओं से भी मलयज अपनी आलोचना में अनेक जगह रू-ब-रू होते हैं। जिस दौर में मलयज आलोचना लिख रहे थे, उसमें एक ओर यदि कविता में सपाटबयानी का आग्रह था तो दूसरी ओर जातीय स्मृतियों के बिम्बों और संदर्भों से काव्यभाषा को अर्थपूर्ण बनाने के प्रयास थे। मलयज सपाटबयानी या जातीय स्मृतियों, दोनों को ही काव्यभाषा के इकहरेपने से मुक्ति दिलानेवाले समाधान के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। वे कहते हैं कि काव्यभाषा के इकहरेपन से तब मुक्ति मिल सकती है, जब कवि का अपने अनुभव के साथ एक गतिशील संबंध हो। साठ के दशक की कविता में बाह्य जगत के अपने बेलौस अनुभव के बखान को ही काव्य-सत्य मान लिया गया था।

'काव्य भाषा का इकहरापन' शीर्षक निबंध में वे कहते हैं, "कवि अनुभूति के साथ किस क़िस्म का सुलूक करता है, वह अनुभूति को किस प्रणाली द्वारा रचना में स्वायत्त करता है, किन रास्तों पर चलकर अनुभूति का सत्य रचना के सत्य में बदलता है—इस रूपांतरण में कवि किस रसायन का इस्तेमाल करता है—ये सब काव्य-भाषा के स्तर का निर्माण करते हैं, अकेली अनुभूति नहीं।"

मलयज इस पूरी रचना-प्रक्रिया में कवि के व्यक्तित्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे मानते हैं कि रचना के लिए कोई भी अनुभव रेडी-मेड नहीं हो सकता। वह व्यक्तित्व की आँच में पिघलकर ही अपने सर्जनात्मक अर्थ को प्राप्त करता है। वे लिखते हैं, "रचना अनुभव में धँसने, डूबने और तड़फड़ाकर कुछ पा लेने की एक जटिल प्रक्रिया है। इकहरेपन से पीड़ित काव्य-भाषा यह ज़ाहिर करती है कि कवि ने उस जटिल प्रक्रिया में पड़ने के बजाय अनुभव को स्वायत्त करने का एक आसान नुस्खा अपनाया है।"

मलयज के अनुसार रचना का अर्थ हमेशा अनुभूति और शब्द के किसी नए रिश्ते की खोज है। न कवि का सब कुछ बाहर है और न सब कुछ भीतर। इन

दोनों की मुठभेड़ से ही काव्यार्थ अपने को चरितार्थ करता है। सपाटबयानी में यदि यह भ्रम है कि यथार्थ का नंगा साक्षात्कार ही कविता की भाषा में अर्थ पैदा कर सकता है तो जातीय स्मृति की भाषा भीतर ही रहती है और बाहर के वस्तु जगत को बड़ी हद तक नकार देती है। ये दोनों ही तरीक़े काव्य-भाषा को इकहरेपन से मुक्ति नहीं दिला सकते। काव्य-बोध अवधारणाओं से या खालिस और अमूर्त संवेगों से नहीं बनता। मलयज के शब्दों में, ''कविता चीज़ों को चीज़ों से, व्यक्ति को व्यक्ति से और व्यक्ति को चीज़ों से जोड़कर अनुभव का एक संघटित संसार बनाती हैं।'' वे कहते हैं कि इस बारे में कोई रियायत नहीं हो सकती। कवि को अपने समय को पूरे भाव और बुद्धि ऊर्जा के साथ जीना होगा, पूरी आसक्ति और उत्कटता के साथ। अनुभव से साक्षात्कार के क्षण को उसकी चरम परिणति तक पहुँचाने के लिए काव्य-व्यक्तित्व की समृद्धि आवश्यक है, तभी एक नया काव्यार्थ जन्म लेता है।

मलयज ने सर्जनात्मक तनाव और अंतर्निष्ठा के प्रश्न को अपनी आलोचना के केन्द्र में रखा है। वे कहते हैं कि काव्य-व्यक्तित्व की समृद्धि का अर्थ है अनुभव का ताप उठा सकने की क्षमता और एक बुनियादी अंतर्निष्ठा से जुड़ना। 'सर्जनात्मक तनाव और अंतर्निष्ठा' निबंध में वे लिखते हैं, ''कला की नैतिकता क्या है? सबसे पहली और सबसे आख़िरी यह कि वह अपने अनुशासन पर कोई दूसरा अनुशासन हावी न होने दे। कला की उत्स-संवेदना और उसकी चरम अभिव्यक्ति के बीच अक्सर जो एक बीहड़ अंतराल पाया जाता है, उसके प्रत्येक बिन्दु या स्तर पर वह अपने प्रति सच्ची बनी रहे—जैसे घटाटोप अँधेरे में रोशनी की एक़ लौ पर टिकी अनझिप आँख होती है।'' मलयज प्रकारांतर से यहाँ रचना-व्यक्तित्व के भीतर एक बुनियादी सर्जनात्मक तनाव को आवश्यक मानते हैं। मलयज के अनुसार यह सर्जनात्मक तनाव ही रचना में एक गतिशीलता को रचता है। वे कहते हैं, ''रचनाकार-व्यक्तित्व की अंतर्निष्ठा का अर्थ यह है कि वह सर्जनात्मक तनाव को सतत एक प्रतिक्षण विस्फोट होते रहनेवाले प्रवाह के रूप में अक्षुण्ण बनाए रखे।'' इस प्रकार मलयज रचनात्मक भाषा के अर्थ-विस्तार की समस्या का रचनाकार-व्यक्तित्व की समृद्धि, उसमें रचनात्मक तनाव को झेलने और ढोने की काबिलियत और उसकी अंतर्निष्ठा के सवाल से संबंध बिठाते हैं।

मलयज ने रचना-भाषा में शब्द को उसके प्रचलित अर्थ से मुक्त करने पर भी ज़ोर दिया है। वे कहते हैं, ''शब्द और अर्थ के साथ दोनों के बीच का अंतराल तीसरी इकाई होता है, और भाषा वस्तुतः शब्द और अर्थ के सह-संबंध से बनती है।'' मलयज के अनुसार परिवेश के साथ गहन लगाव रचना व्यक्तित्व से गुज़रकर अनेकार्थ की सर्जना करता है। वे कहते हैं, ''परिवेश की चेतना व्यक्ति को उसकी अपनी स्थिति के प्रति भी चेतन बनाती है। इस स्वचेतना के साथ उसके सामने जटिल और गहन अनुभवों का एक नया संसार ही खुलने लगता है। यह संसार आवश्यकतया

व्यक्तिगत अनुभवों का संसार नहीं होता, बल्कि व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक अनुभवों का एक संश्लिष्ट संसार होता है। व्यक्ति जितना परिवेश के साथ जुड़ता जाता है, उतना ही इस जटिल संश्लिष्ट अनुभवों के संसार के प्रति भी जुड़ता जाता है। रचनाकार के लिए यह स्थिति ही तनाव का उत्स बनती है।'' इसलिए यह कोई आकस्मिक नहीं कि मलयज ने युवा लेखन के बारे में यह महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है, ''अपने परिवेश के प्रति अधिकाधिक लगाव आज के युवा लेखक की नियति है, पर तनावहीनता के ख़तरे भी पहले की अपेक्षा आज कहीं अधिक बढ़ गए हैं।''

इस प्रकार रचनाकार की भाषा की सघनता, अनुभूति का तनाव और अंतर्निष्ठा ऐसे मुद्दे हैं, जो मलयज की सैद्धांतिक आलोचना की बुनियादी कसौटी बनते हैं। मलयज इन्हीं के आधार पर आधुनिक रचनाशीलता के गुण-धर्मों को जाँचते हैं। ये ही वे औज़ार हैं, जिनके आधार पर उन्होंने साठ और सत्तर के दशक में न केवल युवा रचनाशीलता के तेवर को जाँचा-समझा, बल्कि इन्हीं के आधार पर पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियों और वरिष्ठ रचनाकारों के अंतःलोक का भी विश्लेषण किया है। साठ का दशक मलयज के लिए केवल युवा लेखन के मूल्यांकन का संदर्भ लेकर ही नहीं आया, बल्कि अपनी इस नई आलोचना-दृष्टि के बल पर उन्होंने निराला, शमशेर, अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, त्रिलोचन, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों को भी विश्लेषित किया।

मलयज की व्यावहारिक आलोचना उनकी सैद्धांतिक आलोचना की तरह ही अत्यंत सघन और अंतर्दृष्टिपूर्ण है। निराला, अज्ञेय, त्रिलोचन, शमशेर, प्रभाकर माचवे, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, श्रीराम वर्मा, आग्नेय, शिवकुटीलाल वर्मा, सोमदत्त, विष्णु नागर जैसे कवियों पर उन्होंने व्यावहारिक समीक्षाएँ लिखी हैं। मुक्तिबोध, निर्मल वर्मा, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, रमेशचंद्र शाह आदि के कथा-संसार का उन्होंने गहन विश्लेषण किया है और अनेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ रखी हैं।

इन व्यावहारिक आलोचनाओं के माध्यम से भी मलयज ने अपनी आलोचकीय दृष्टि का एक महत्त्वपूर्ण परिप्रेक्ष्य बनाया है। इसके कुछ दिलचस्प उदाहरण देखे जा सकते हैं। निराला की कविता 'सरोज स्मृति' की संरचना का विश्लेषण करते हुए उन्होंने कहा कि आम छायावादी कविता से निराला की यह कविता इसलिए भिन्न है, क्योंकि इसमें निराला ने एक वास्तविक संसार के दुःख से साक्षात्कार किया है। यह रचना अनेक स्तरों पर घटित होती है और रचनाकार के भीतर के आदर्श और यथार्थ के द्वंद्व को उसके समूचे तनाव के साथ प्रस्तुत करती है। तनाव के भिन्न स्तर ही इस कविता में अर्थ की बहुविध छवियों को पैदा करते हैं।

अज्ञेय के परवर्ती काव्य पर टिप्पणी करते हुए मलयज लिखते हैं, ''अज्ञेय अपनी मूल प्रतिज्ञाओं से विरत हुए हैं और उनमें एक रचनात्मक स्खलन दिखाई

देता है।'' उन्होंने एक गहरी अंतर्दृष्टि के साथ अज्ञेय की परवर्ती कविता की भाषा की विवेचना करते हुए यह सिद्ध किया है कि उसमें सर्जनात्मक तनाव का क्षरण हुआ है। अनुभूति के ताप की जगह उसमें एक ठंडी दार्शनिकता आ बैठी है।

शमशेर की कविता पर लिखते हुए मलयज इस बात से अपनी असहमति ज़ाहिर करते हैं कि बाहरी वस्तु-संसार को रचना में इस हद तक अमूर्त कर दिया जाए कि वह अपना मूल ताप ही खो बैठे। मलयज ने शमशेर के अंतर्विरोधों को एक पैनी निगाह से उजागार किया है। इसी तरह त्रिलोचन की कविता में जातीय बोध की प्रशंसा करते हुए भी मलयज उसमें अनुभूति की जटिलता और जीवन-संघर्ष की कमी को रेखांकित करते हैं। निर्मल वर्मा के कथा-संसार के बारे में उनका यह निष्कर्ष बड़ा महत्त्वपूर्ण है, "जहाँ स्मृति है, वहीं निर्मल वर्मा अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं, उसके बाहर वे एक 'मरुस्थल', एक विषाद और अंतहीन ऊब देखते हैं, जिनसे उन्हें सिर्फ़ डर लगता है। यह डर ही उन्हें जीने नहीं देता। स्मृति के बाहर के बेलौस जलते और उबड़-खाबड़ प्रदेशों में भटकने, रमने नहीं देता।'' श्रीकांत वर्मा पर मलयज ने एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है कि श्रीकांत वर्मा में बुद्धितत्त्व और विचारतत्त्व के मुखर खंडन के पीछे एक गाँठ है। मलयज कहते हैं कि इस गाँठ की जड़ आज के हिन्दुस्तानी दिमाग़ में उतनी नहीं, जितनी उस अंतर्राष्ट्रीय कला चिन्तन में है, जिसके प्रभाव से आज का मध्यमवर्गीय लेखन भी अछूता नहीं रह गया है। यह एक गाँठ है कि कला के अनुभव पर किसी भी बाह्य विचारधारा के प्रभाव की मुख़ालफ़त करना। मलयज प्रकारांतर से यह बताना चाहते हैं कि दूसरे महायुद्ध के बाद शीतयुद्ध की राजनीति ने हिन्दी के नव बौद्धिकों को किस तरह से अपने शिकंजे में लिया है।

कतिपय युवा कवियों के रचना-संसार पर भी मलयज ने उतनी सहृयता और उतनी ही बेबाकी से लिखा है। साठ के दशक में लिखी गई वामपंथी विचारधारा की मुखर और बड़बोली कविता के स्वरूप को लेकर मलयज ने अपनी शंकाओं को खुलकर रखा था। मलयज ने कहा, "ऐसी कविता हमारे व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंश की माँग को पूरा करती है—वह चीज़ों को वाहियात रहस्यों और ऊँघते हुए एहसासों की धुँध से निकालकर उन्हें समझने के, परखने के निहायत ज़रूरी दस्तूर के निकट लाती है। पर यह आवश्यकता मनुष्य के कुल व्यक्तित्व का बहुत छोटा हिस्सा है। कविता मनुष्य के व्यक्तित्व की सबसे गहन, बुनियादी और तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली होनी चाहिए।'' मलयज एक तरफ़ यदि कलावाद से लड़ रहे थे तो दूसरी ओर उसकी लड़ाई उस वामपंथी समझ से भी थी, जो एक सरलीकरण को अपना लेती है। वे कहते हैं, "ऐसी वामपंथी कविता अपनी संरचना में एक अमूर्तता की ओर बढ़ती है, क्योंकि इसमें जीवित मनुष्यों की जगह मनुष्यों के प्रतीक जगह बना लेते हैं।''

मलयज इस बात को निरंतर अपनी आलोचना के केन्द्र में रखते हैं कि आदमी का अस्तित्व एक जटिल सत्ता है। वह अनेक विरोधी तत्त्वों की रगड़ से बना है। उसकी अनेक पर्तें हैं। इसे कुछ प्रतीक या अवधारणाओं में रिड्यूस करना साहित्य में अनुभव के सरलीकरण की ओर बढ़ना है। उन्होंने व्यंग्य में यह भी कहा कि ऐसी कोशिशों से ''अनुभूतियों का आम आदमीकरण हो गया है।'' मलयज वस्तुओं को उनकी 'फ़ेस वैल्यू' पर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मलयज की आलोचना का परिप्रेक्ष्य विघटित होते मूल्यों के दौर में संवेदनशीलता के नए रूपों की शिनाख़्त से बनता है। भाषा, सौन्दर्य-रुचि और अनुभव संजोनेवाला तंत्र उनके बुनियादी विश्लेषण के आधार हैं। रोष, व्यंग्य, कुढ़न, ललकार, विषाद, करुणा, भावुकता और आत्म-दया के तमाम शेड्सवाली समकालीन रचनाशीलता के विभिन्न संसारों को उन्होंने समझने की कोशिश की है।

मलयज के आलोचक की यात्रा नई कविता के अमूर्त मानवतावाद से शुरू हुई थी, लेकिन बाद में उनके चिन्तन में विचारधारा, विशेषरूप से मार्क्सवादी विचारधारा की ओर झुकाव बढ़ता जा रहा था। सत्तर और अस्सी के दशक में हिन्दी में कलावाद एक नए रूप में आया था। इसकी नई दलीलें तैयार हुई थी। मलयज विचारधारा विरोधी इस कलावाद के नए ख़तरों के प्रति पूरी तरह सजग थे। जहाँ भी प्रासंगिक हुआ है, उन्होंने राजनीतिक पक्षधरता की बात दो टूक शब्दों में की है। उनकी आलोचना में प्रच्छन्न मानव करुणा की भी खोज है। वे एक सामूहिक असंवेदनशीलता के विरुद्ध रचना के मोर्चे को एक बड़ी लड़ाई के रूप में देखते हैं। लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं कि साहित्य का अवरोध मात्र कला की स्फूर्ति से दूर नहीं किया जा सकता। उसके लिए एक वृहत्तर सामाजिक बोध का प्रतिफलन ज़रूरी है।

मलयज ने अपनी आलोचना में यह बात भी रेखांकित की है कि हर टूटन एक नई ऊर्जा भी पैदा करती है। वे समकालीन समय की रचनाशीलता में अलंकरणहीनता के महत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। निचले मध्यवर्ग की अनगिनत छोटी-छोटी सच्चाइयों से बननेवाले एक युग को रेखांकित करते हैं। साधारण की नाटकीयता में वे नई रचना संभावनाओं को देखते हैं। वे कहते हैं वस्तुजगत संसार यदि अपने तमाम ब्यौरों और प्रामाणिकता के साथ आ रहा है तो यह एक नया युगबोध है। मुहल्ले की मामूली बातचीत, तमाम छोटे-बड़े चरित्र, दिनचर्या के मामूली लगते सच एक नई रचनाशीलता को जन्म दे रहे हैं। महानता और असाधारणता के भ्रम टूट रहे हैं। शाश्वतता हमेशा स्पृहणीय नहीं है, क्योंकि वह तात्कालिक यथार्थ को अमूर्त बनाती है। लेकिन साथ ही ग़ैर-राजनीतिक स्वर के अपने ख़तरे हैं। मलयज रचना में केवल शांत मुहावरे को कोई मूल्य नहीं मानते थे। उन्होंने निरुद्वेगता के अंतर्विरोधों को रेखांकित किया है। वे लेखक की पक्षधरता को इस युग का अनिवार्य तत्त्व मानते थे। वे कहते हैं

कि रचना में हिन्दुस्तान के निचले मध्यवर्ग की दुनिया का साक्षात्कार हो यह अच्छी बात है, पर एक राजनीतिक चेतना का नया अनुभव रचना में बनना चाहिए। आज यथार्थ सीधा, सपाट और निरुद्वेग नहीं हो सकता। जब हम निम्न मध्यवर्ग की दुनिया को रचते हैं तो उस वर्ग का भयावह अनुभव संसार अपने सारे अंतर्विरोधों के साथ रचना में आना चाहिए। यथार्थ अपनी सारी वस्तुपरकता के साथ हो यह अच्छा है, पर एक रचनाकार उसके भीतर निहित द्वंद्वात्मकता को जब तलाश कर पाता है, तभी वह रचना का अपना यथार्थ बनाता है।

यह आकस्मिक नहीं है कि मलयज ने औपचारिक ढंग की अकादमिक और सैद्धांतिक आलोचना कभी नहीं लिखी। बहुधा उनकी मान्यताएँ कला अनुभव के साथ विश्लेषणात्मक अनुभव की यात्रा दौरान बनी है। इसी में अनेक नए अर्थ खुलते गए हैं। व्यावहारिक समीक्षा के काम में भी वे पेशेवर समीक्षक कभी नहीं बने। अपने मंतव्य को रखने के लिए रचनाओं को चुनने के मामले वे बेहद सजग थे।

मलयज को नई कविता के बाद की कविता मिली थी। उसके मूल्यांकन के लिए उन्होंने अपने औज़ार बनाए। इनके आधार पर वे बदली हुई रचनाशीलता को तो परखते-विश्लेषित करते ही हैं। पहले की काव्य प्रवृतियों को भी नए दृष्टिकोण से विश्लेषित करते हैं। आचार्य शुक्ल और निराला पर उनके विश्लेषण को इस दृष्टि से देखा जाना चाहिए। इस तरह मलयज ने साठ और सत्तर के दशक में अपनी आलोचना का जो परिप्रेक्ष्य रचा, वह उस दौर के लिए तो एक सर्वथा स्फूर्त परिप्रेक्ष्य था ही, वह परवर्ती रचना और आलोचना के लिए भी आज तक उतना ही प्रासंगिक और ज़रूरी बना हुआ है।

(क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल और मलयज

हिन्दी आलोचना के युगपुरुष आचार्य रामचंद्र शुक्ल पर मलयज का अध्ययन उनके साहित्यिक अवदान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मलयज की विशेषता थी कि एक ओर जहाँ वे अपने समसामयिक परिवेश और अपने समय की सृजनात्मक प्रवृतियों से जुड़े हुए थे, वहीं उनमें अपनी परंपरा के प्रति भी गहरी रुचि थी। परंपरा के जीवित अंशों से वे संबंध बनाते थे। क्लासिक को नए युग के साथ समझने की यह कोशिश समकालीन हिन्दी आलोचना में दुर्लभ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल मलयज के आदर्श थे। मलयज ने शुक्ल जी के समय, उनके व्यक्तित्व और उनके आलोचनात्मक अवदान पर एक मौलिक सूझ-बूझ के साथ लिखा है। महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि आचार्य शुक्ल के संबंध में उनका यह अध्ययन अकादमिक आलोचना की शुष्कता और बँधे-बँधाए ढर्रे से एकदम अलग है।

मलयज की पुस्तक *रामचंद्र शुक्ल* 1987 ई. में प्रकाशित हुई थी। मलयज आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व को एक नए दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करते हैं। वे इस बात की पड़ताल करते हैं कि युगीन दबावों और परिस्थितियों ने आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व में किन विशेषताओं को रचा था और उनका यह व्यक्तित्व कैसे एक समूची चिन्तन परंपरा में अपना सार्थक हस्तक्षेप करता है। मलयज आचार्य शुक्ल पर विचार करते समय सबसे ज़्यादा इस बात को रेखांकित करते हैं कि शुक्ल जी के व्यक्तित्व और कृतित्व के वे कौन से पहलू हैं, जो उन्हें हमारे समय में भी ज़रूरी और प्रासंगिक बनाते हैं। आचार्य शुक्ल के साहित्यिक अवदान को अकादमिक आलोचना में अक्सर बहुत पंडिताऊ और बोझिल तरीक़े से ही समझा गया है। इसके विपरीत मलयज शुक्ल जी पर वैचारिक गद्य लिखते हुए भी उसमें सर्जनात्मक साहित्य के लालित्य को ले आते हैं।

सबसे बड़ी बात तो यह कि मलयज इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि शुक्ल जी के चिन्तन का समूचा सरोकार भारत का औसत मनुष्य और उसका जीवन है। मलयज ने लिखा भी है, ''शुक्ल के रसवाद पर दुर्भाग्य से शास्त्रीयता की इतनी मोटी पर्त चढ़ चुकी है कि उसके भीतर छिपे सामान्य मनुष्य के चेहरे को टटोलना एक दुस्साहसिक कार्य ही माना जाएगा।'' सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने मलयज की इस पुस्तक की भूमिका लिखते हुए इस संदर्भ में हिन्दी की अकादमिक आलोचना की जड़ता पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है, ''जो लोग शुक्ल जी के लोक-जीवन, लोक-मंगल, लोक-धर्म आदि का अक्सर हवाला दिया करते हैं, उनकी दृष्टि में लोक अर्मूत और अस्पष्ट है, उन्हें भी इस लोक की अवधारणा में जीता-जागता 'सामान्य मनुष्य' नज़र नहीं आता। यह 'सामान्य मनुष्य' तो उसे ही नज़र आ सकता है, जिसमें पोथी के बाहर आकर प्रत्यक्ष लोक-जीवन में शुक्ल जी के मनुष्य को खोज़ने का साहस हो।''

मलयज शुक्ल जी के व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके परिवेश पर अपनी निगाह डालते हैं। वे उस परिवेश के औसत जीवन और उसमें संघर्षरत साधारण मनुष्य के जीवन को देखते हैं। वे टोंस नदी के किनारे बसे हुए मिर्ज़ापुर के उस अंचल में जाते हैं, जिसमें शुक्ल का मूल्यबोध रचा-बसा हुआ था। जहाँ उनकी मानसिक संरचना ने आकार लिया था। वे एक मनुष्य के रूप में शुक्ल जी के लगावों, संस्कारों, प्रतिबद्धताओं और उनके जीवन-संघर्ष पर निगाह डालते हैं। इस पुस्तक की भूमिका में डॉ. नामवर सिंह ने उचित ही लिखा है, ''मलयज ने आलोचना के शास्त्रीय प्रत्ययों के अंदर जाकर आचार्य शुक्ल के सामान्य मनुष्य की जिस प्रतिमा का निर्माण किया है, वह निश्चित रूप से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक मौलिक सृष्टि है; किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह पद्धति है, जिससे उस प्रतिमा के उपादान और तत्त्व खोजे गए हैं।

"1975 ई. के आस-पास मलयज ने आचार्य शुक्ल की पुस्तक *रस मीमांसा* का अध्ययन किया था। इससे प्रेरित होकर वे शुक्ल जी के शास्त्रीय दायरे के बाहर एक व्यक्ति के रूप में समझने की ओर प्रवृत्त हुए थे। वे आचार्य शुक्ल के निजी जीवन-संघर्ष को उन पर पड़े संस्कारों को, उनके बौद्धिक उपक्रम को उनके समय के संक्रांतिकाल वाले दबावों से जोड़ते हैं। इस तरह वे यथार्थ के द्वंद्वरत रूपों को रेखांकित करते हैं।"

मलयज ने आचार्य शुक्ल की आधुनिकता को अपने अध्ययन केन्द्र में रखा है और प्रकारांतर से यह समझना चाहा है कि बीसवीं सदी में भारतीय आधुनिकता का संघर्ष किस तरह का रहा है। वह सक्रांति के किन दबावों के बीच कार्यरत रहा है? आचार्य शुक्ल का एक ओर ठेठ भारतीय परंपरा से जुड़ा किसान मन था, जो आजीवन भारत के ग्राम अंचलों की मूल्य चेतना और संस्कारों से संबद्ध रहा तो दूसरी ओर पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और विचारों से आंदोलित उनकी वह प्रखरता थी, जो उन्हें अपनी परंपरा और अपने युग परिवर्तन को समझने की एक वस्तुनिष्ठ दृष्टि देती थी। शुक्ल जी के व्यक्तित्व में विरुद्धों की एक द्वंद्वात्मकता थी। गति और केन्द्र की तनातनी एक साथ थी। उनके सामने एक ओर महावीरप्रसाद द्विवेदी युग की तथ्य आधारित चेतना थी तो दूसरी छायावादी युग का भाव-संस्कार था। भारतीय समाज एक बड़े परिवर्तन से गुज़र रहा था। एक ओर सदियों तक अक्षुण्ण रही ग्राम समाज की स्थिर गति, स्तब्ध समय के चित्र, संस्कारशील लय और सामंती ढाँचे से जन्मी मूल्य चेतना थी तो दूसरी ओर पूंजीवादी विकास के नए चिह्न उभरने लगे थे। आज़ादी के आंदोलन की चेतना भी भारतीय समाज को सदियों की नींद से जगा रही थी। एक ओर पुराने संस्कार, आत्मतोष, रूढ़ियों में जकड़ी जीवन लय, वर्ण-व्यवस्था और परंपरागत जीवन मूल्य तो दूसरी ओर मुक्ति की कामना। एक ओर स्थिरता और सामंजस्य था तो दूसरी परिवर्तन और क्रांति मर्म के बीच सिर्फ़ व्याख्या नहीं, उसके मूल उत्सों की खोज और पड़ताल उस विवेक की कसौटी है, जिसे संभव बनाकर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी में पहली बार वास्तविक आलोचना कर्म को संभव बनाया।"

इस पुस्तक में मलयज जब आचार्य शुक्ल का जीवन-वृत्त लिखते हैं तो वह केवल एक बौद्धिक के जीवन की इतिवृतात्मक घटनाओं का विवरण मात्र नहीं है। मलयज उन दबावों को समझने की कोशिश करते हैं, जिनके घर्षण से एक प्रखर भारतीय आधुनिक मेधा की ठोस पहचान बनती है। 1884 ई. में उत्तर प्रदेश के वस्ती ज़िले के एक छोटे-से गाँव में शुक्ल जी का जन्म हुआ था और 1947 ई. में काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में उनका निधन हुआ। यह सत्तावन वर्ष की जीवन यात्रा समाज, साहित्य और संस्कृति के विभिन्न धरातलों पर चल रहे बौद्धिक और वैचारिक घमासान की न सिर्फ़ गवाह बनती है, बल्कि

एक हद तक उसका संचालन भी करती है।

मलयज लिखते हैं, ''शुक्ल जी की दृष्टि मुख्यतः पड़ताल और खोज की दृष्टि है। बिना इसके वह सिर्फ़ परंपरा का पिष्टपोषण करनेवाली देश और काल में बँधी दृष्टि होती।''

आचार्य शुक्ल का बचपन मिर्ज़ापुर के सुरम्य प्राकृतिक अंचल में बीता था। मलयज इस महत्त्वपूर्ण स्थापना को रखते हैं कि यह प्रकृति-प्रेम शुक्ल जी के चिन्तन में ''मानव-मन एवं मानव-रचना के अधिक गूढ़ व्यवहारों की दार्शनिकता और मूल्य-बोध के धरातल से संपृक्त हो गया था।'' मलयज शुक्ल जी की स्मृति में उन्हीं स्थानों पर विचरते हैं और वर्तमान के बदलाव को पुरानी फ़्लैश बैक रील में अतीत की पृष्ठभूमि से जोड़ते हैं। शुक्ल जी के बचपन और युवावस्था के परिवेश मिर्ज़ापुर में टहलते हुए वे अपने को खुला छोड़ देते हैं। यह मलयज का कवि स्वभाव है। वे एक अनुभव के बल पर उस आंतरिक सत्य को पाना चाहते हैं, जो केवल तथ्य की ऊपरी खोल से नहीं पाया जा सकता। वे शुक्ल जी से जुड़ते हुए एक प्रतिभा के विकास के पूरे परिवेश से जुड़ते हैं। वे कहते हैं, ''शुक्ल जी की काव्य संबंधी अनेक धारणाओं का मूल और फल प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का निरीक्षण और उसकी रागात्मक संपृक्ति ही है। प्रकृति उनकी साहित्य चिन्ता का संस्कार है। यह संस्कार उनमें दृढ़ हुआ और अपने समय में उपलब्ध मनुष्य और प्रकृति के उसी सहज एकात्म और परस्पर निर्भर संबंध से।'' 1903 ई. में आचार्य शुक्ल ने अपना महत्त्वपूर्ण निबंध 'कविता क्या है' लिखा था, जिसमें उन्होंने मनुष्य के मन को स्थायी भावों को काव्य का मूल स्रोत मानते हुए कहा था कि मनुष्य के मन के मूल भाव प्रकृति के आदिम और मार्मिक नानाविध व्यापारों से जुड़े हुए हैं। आधुनिक औद्योगिक समाज मनुष्य के मूल भावों को निरंतर जटिल बनाता जा रहा है। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास तीव्र होता जाएगा, इस जटिलता के साथ कवि-कर्म भी निरंतर जटिल होता जाएगा। मलयज शुक्ल जी की इस महत्त्वपूर्ण स्थापना के पीछे अपने प्रकृति अंचल से उनके निभ्रान्त, उन्मुक्त और सघन लगाव को लक्षित करते हैं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का यह समय जो शुक्ल जी का समय है, साहित्य और समाज में संघर्ष, जूझने, घिसने, लड़ने, पिसने, खोने-पाने का समय है। मलयज प्रश्न उठाते हैं, ''इस दुर्धर्ष जीवन खंड के लिए शुक्ल जी को प्राण-रस और ऊर्जा कहाँ से मिलती थी? निस्संदेह उनके प्रकृति-विहार से। बनारस में रहते हुए भी उनका मन मिर्ज़ापुर में बिताए दिनों के लिए तरसता रहा।'' मलयज इस बात को एक नए कोण से रेखांकित करते हैं कि 1919 के आस-पास जब शुक्ल जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए तो यह उनके जीवन का एक दूसरा अध्याय था। शुक्ल जी की वैचारिक प्रतिभा प्रौढ़ हुई, लेकिन साथ ही उन्हें कठिन आर्थिक संघर्ष भी झेलना पड़ा। ''जीवन और चिन्तन के क्षेत्र में जो घात-प्रतिघात उन्हें काशीकाल में झेलने

पड़े, उनसे ही उनकी वास्तविक प्रतिभा का निर्माण हुआ। विचार के क्षेत्र में शुक्ल जी की उद्‌भावनाएँ साहित्य जगत में रगड़ पैदा कर रही थीं और वातावरण गर्म हो रहा था। पुरानों को वे नए लग रहे थे और नयों को पुराने।''

मलयज शुक्ल जी पर लिखते हुए इस बात को गहरे रेखांकित करते हैं कि शुक्ल जी की प्रतिभा साहित्य में बिम्बित मनुष्य और समाज के रिश्तों की जटिलता को विश्लेषित कर रही थी। वे इसके या उसके पक्ष में नहीं थे। तथ्य-संग्रह, विवेचन-विश्लेषण और सैद्धांतिक उद्‌भावनाएँ तथा मूल्यांकन शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि को एक गहरे नैतिक दायित्व से जोड़ता था। वे अपने समय की प्रचलित सौन्दर्य की पड़ताल के एक तटस्थ और विवेकपूर्ण दृष्टि से कर रहे थे। उन्होंने काव्य में लोकमंगल की स्थापना कर हिन्दी समीक्षा का एक नया मान और आदर्श गढ़ा। वे कहते हैं कि शुक्ल जी की समीक्षा के माध्यम से औसत हिन्दुस्तानी मनुष्य के सरोकार पहली बार आधुनिक साहित्य के केन्द्र में आए। साहित्य को वास्तविक अर्थों में समाज का दर्पण समझने और समझाने का काम हुआ। यहां भी शुक्ल जी प्रकृति-प्रेम को देश-प्रेम में और और देश-प्रेम को प्रकृति-प्रेम में बदल देते हैं। मलयज के शब्दों में, ''शुक्ल जी के लेखे वास्तविक देश-प्रेम किसी अर्थशास्त्र का गुलाम नहीं, वह सच्चा प्रकृति प्रेम ही है और यह प्रकृति भी मनुष्य विरहित नहीं है। केवल इस प्रकृति में जो रमेगा, वह इस देश का ठेठ देहाती ही होगा; परिष्कृत रुचि का बनावटी शहरी नहीं।''

लेकिन मलयज द्वारा वर्णित शुक्ल जी का व्यक्तित्व एक सपाट और एकायामी व्यक्तित्व नहीं है। मलयज आचार्य शुक्ल पर लिखते हुए उनके व्यक्तित्व के भीतर समाहित सभी परस्पर द्वंद्वरत भावभूमियों का भी ज़िक्र करते हैं। यह द्वंद्व गाँव के देसीपन और शहरी ज्ञान-विज्ञान के बीच है। यह द्वंद्व पुरानी जड़ भारतीय और पश्चिम से आनेवाले नए विचारों के बीच है, प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम और उसके अमूर्त और अप्रस्तुत रहस्यवाद के बीच है। यह द्वंद्व द्विवेदीयुग की कला में बसी इतिवृत्तात्मकता और छायावादीन युग की लोकविमुखता के बीच है। यह द्वंद्व औसत भारतीय नागरिक के जातीय बोध और साहित्य में कलावाद की ओर से आनेवाले अभिजात्य के बीच था।

मलयज शुक्ल जी के व्यक्तित्व के बहुआयामी रूपों की शिनाख़्त करते हैं। वे कहते हैं, ''शुक्ल जी के कई रूप हैं। एक रूप वह, जिससे हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा और गोया हमें वह झरोखा दिया, जिसमें बैठकर न सिर्फ़ साहित्य के इतिवृत्त का; बल्कि उसे संभव बनानेवाले हवा-पानी-मिट्टी का भी जायज़ा लिया जा सके। एक रूप वह, जिसने छायावाद से लोहा लिया। एक वह, जो 'हृदय का मधुभार' हल्का करने के लिए स्मृतिजीवी कवि बना। एक वह, जिससे हिन्दी की विचार-शक्ति को देसी साँचे में ढालकर समालोचना के नए औज़ार गढ़े। एक ओर

जिसने पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व में अपनी ज़मीन का विवेक नहीं खोया और उससे बड़ी बात यह कि अपनी भाव-संवेदना के कपाट सदा खुला रखे। पर एक वह रूप है, जिसमें शुक्ल जी के सभी रूप समाहित हैं—सभी रूप इस एक रूप से निकले हैं और वह है उनका विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध साधारण और सर्वानुभूत का पक्षधर रूप। शास्त्रीय खंडन-मंडल के तमाम घटाटोप के बावजूद शुक्ल जी के व्यक्तित्व का यह मूल रूप छिप नहीं सका है। आश्चर्य है कि उनके इस तेजस्वी रूप पर अब तक विश्वविद्यालयों के शोध-पत्रों की गर्द ही झड़ती रही, नए लेखकों ने अपनी जन-प्रतिबद्धता की साख क़ायम करने के नाम पर भी उसका स्मरण नहीं किया।''

यही दरअसल शुक्ल जी पर किए गए मलयज के इस अध्ययन की विशेषता है। उन्होंने शुक्ल जी के मनुष्य और उनके विचार जगत के सूत्रों को आपस में जोड़ा है। एक प्रतिभा के विकास को रूपायित किया है। शुक्ल जी रस मीमांसा संबंधी गहन अध्ययन, तुलसी और सूर पर उनके अध्ययन, उनके हिन्दी शब्द-कोश निर्माण के यशस्वी कार्य, हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन संबंधी नवोन्मेषी दस्तावेज़ या मनोविकार संबंधी अद्वितीय लेखों में सभी जगह मलयज ने शुक्ल के आचार्य की महिमा से मंडित व्यक्त्वि की चकाचौंध के बीच उस सहज विचारवान, रागात्मक, संवेदनशील, संघर्षरत नैतिक मनुष्य की शिनाख़्त की है, जो उनकी समस्त उपलब्धियों के मूल में है। शुक्ल जी ने लिखा था कि बुद्धि प्रसार से ही भाव प्रसार संभव है, क्योंकि बुद्धि ही बाहर का गतिमय एक पूरा संसार प्रस्तुत करती है, भावोत्तेजना के लिए 'तथ्य' जुटाती है। मलयज शुक्ल जी पर लिखते हुए उनके ओज और उनकी मार्मिकता के बीच एक संबंध बिठाते हैं। मलयज के ही शब्दों में, ''शुक्ल जी एकमात्र एक समालोचक नहीं रह गए हैं, वे स्रष्टा हो गए हैं, क्योंकि वे सच को मिथ में बदल रहे हैं।'''

(ख) मुक्तिबोध और मलयज

पचास और साठ के दशक में जब मलयज की सर्जनात्मक और वैचारिक प्रतिभा अपना आकार ग्रहण कर रही थी, साहित्य के आकाश पर मुक्तिबोध एक नक्षत्र की तरह छाए हुए थे। बदलते युग की परिस्थितियों में मुक्तिबोध के महत्त्व को युवा पीढ़ी ने पहचाना था। साठ के दशक में जब नेहरू युग के स्वप्निल आदर्शों के अंतर्विरोध सामने आए और साहित्य में एक नई पीढ़ी उभरी तो इस पीढ़ी को अपने यथार्थ की उस तल्ख़ बेचैनी से जुड़ने में मुक्तिबोध अपने भावबोध के निकट लगे। उसने मुक्तिबोध को अपना नायक माना। मुक्तिबोध के साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रति एक गहरा असंतोष है। वे शक्ति के मौजूदा ढाँचे से प्रवाहित

होती संस्कृति और उसके मनुष्य विरोधी जीवन मूल्यों के आलोचक हैं। मुक्तिबोध एक प्रकार से आजादी के बाद के भारत की त्रासदी के प्रवक्ता हैं। उनका समूचा साहित्य यथास्थितिवाद और आभिजात्य सौन्दर्य-रुचियों के विरुद्ध एक बेचैनी, अकुलाहट और कसमसाते हुए दुःख मूल का साहित्य है। वे वर्ग-विभक्त समाज में आम आदमी की विषम जीवन स्थितियों, उसके संघर्ष और उसके सपनों के गायक हैं। वे एक नए युग के ऐसे नए साहित्य के हिमायती थे, जिसमें हिन्दुस्तान के आम आदमी का समूचा जटिल संसार अपनी धड़कनों के साथ रूपायित होता हो।

मलयज मुक्तिबोध की जीवन-दृष्टि और उनके सौन्दर्य-बोध से गहरे प्रभावित थे। वे यह मानते थे कि मुक्तिबोध ने आज़ादी के बाद के साहित्य में एक नितांत भिन्न प्रकार की वैचारिक हलचल और संवेदना के ढाँचे को प्रस्तुत किया है। मुक्तिबोध अपने समय की प्रचलित सौन्दर्य-दृष्टि से बाहर थे। वे वर्ग-विभक्त समाज में आम मनुष्य के चारों ओर की विषम परिस्थितियों के विश्लेषक तो थे ही, मनुष्य के अंतर्मन पर पड़ते इसके दबावों के व्याख्याकार भी थे। मुक्तिबोध की बेचैनी और अकेलापन एक विचारदृष्टि और उसकी द्वंद्वात्मकता से युक्त था। इसलिए न तो उनका अकेलापन नई कविता की प्रचलित सौन्दर्य-दृष्टि के खांचे के भीतर क़ैद राग और ऐश्वर्यपूर्ण अमूर्त क़िस्म का अकेलापन था और न ही वे आम आदमी की छवि को यांत्रिक प्रगतिशील नारों में रचते थे। इन दोनों ध्रुवों के बीच कहीं उनका सर्जनात्मक तनाव था।

मलयज की यह विशेषता रही है कि वे रचनाकार के रचनात्मक जगत में उसकी संरचना का विश्लेषण करते हुए प्रवेश करते थे। मुक्तिबोध पर लिखते हुए भी उन्होंने मुक्तिबोध की रचना की व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध की भावभूमि और उनके मूल्य-बोध पर टिप्पणी की है।

अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित *पूर्वग्रह* के अंक 43 (मार्च-अप्रैल 1981 ई.) में मलयज ने मुक्तिबोध पर अपना लेख 'सतह से ऊपर उठाती रचना' लिखा था। यह मलयज के निधन के उपरांत प्रकाशित उनके वैचारिक लेखों की पुस्तक *संवाद और एकालाप* में संकलित हुआ है।

मुक्तिबोध पर लिखते हुए मलयज ने उस औसत मनुष्य के जटिल भाव संसार का विश्लेषण किया है, जो मुक्तिबोध के लेखन के केन्द्र में है और जिसके द्वारा मुक्तिबोध साहित्य के एक नए सौन्दर्यशास्त्र की हिमायत करते थे। मलयज लिखते हैं कि मुक्तिबोध के समस्त लेखन में इस सामान्य मनुष्य का संघर्ष जीवन और उसकी विडंबना एक केन्द्रीय तत्त्व बनकर उभरते हैं। यह सामान्य मनुष्य इतना सामान्य है कि हमारे सार्वजनिक जीवन के नितांत रोज़मर्रा की औसत स्थितियाँ ही उसकी नियति को बनाती और रचती हैं। लेकिन यह मान लेना भूल होगी कि उसका संसार बहुत आसान और सरल है। निश्चय ही इस औसत मनुष्य का संसार बेहद जटिल

है। एक तरफ़ उसमें भावुकता, मूल्याकांक्षा और आदर्श है तो दूसरी ओर उसमें एक साँवली उदासी है। स्वप्न और सच के मिले-जुले रंग है। इस सामान्य मनुष्य की चेतना के अनेक स्तर है। ऊपरी तौर पर हमें उसका संघर्ष दिखाई नहीं पड़ता। सतर पर सब कुछ शांत और सहज नजर आता है। पर सतह के नीचे एक ज़बर्दस्त बेचैनी है। मुक्तिबोध सामान्य मनुष्य के सतह के इस जीवन और उसके तलघर को प्रकाशित करते हैं।

मुक्तिबोध पर लिखते हुए मलयज ने इस बात को रेखांकित किया है कि मुक्तिबोध ने अपने साहित्य में कहीं पर भी इस आम आदमी की छवि को रोमानी नहीं बनाया है। लेकिन साथ ही मुक्तिबोध में एक विलक्षण क़िस्म का स्वप्न है। वे अपने इस स्वप्न को आम आदमी की नियति से जोड़ते हैं। उनके साहित्य में यह औसत आदमी "सतह से छिटककर—अपनी वर्ग सीमा को पार कर—उसके बाहर नहीं जाता, वह सिर्फ़ उससे ऊपर उठता है, उसी का रहते हुए। वह अपने क्लास को डिजर्ट नहीं करता, क्योंकि उसकी शक्ति वही है, क्योंकि उसका संघर्ष वही है—संघर्ष आगे बढ़ने की एक अंधी होड़ नहीं, किन्हीं मूल्यों को साथ लेकर जूझने की कोशिश है।"

मलयज लिखते हैं कि इस औसत हिन्दुस्तानी मनुष्य पर लिखते हुए मुक्तिबोध का सामना समाज की उस ताक़तवर संस्कृति से था, जो मूलतः सफलताकामी, उपभोगवादी और आत्मकेन्द्रित है। पूँजीवादी सभ्यता ने इस चमक-दमक से भरी एक हिंसक संस्कृति को समाज में फैलाया है। मुक्तिबोध इस बारे में सतर्क हैं। वे इस सफल समाज का हिस्सा बनना नहीं चाहते। वे अपनी नियति को समाज की तलछट से जोड़ना चाहते हैं। वे इस उठाईगीर संस्कृति और अंधी प्रतियोगिता से दूर मानव आत्मा की किसी विशाल सतह और इस आत्मा के किसी अपरिमित आयाम से जुड़ना चाहते हैं।

मुक्तिबोध के भाव संसार पर लिखते हुए ऐसा लगता है कि मलयज कहीं अपने ही भाव संसार को रेखांकित कर इस चमक-दमक भरी उपभोगमूलक संस्कृति के प्रति अपनी एक बुनियादी वितृष्णा को व्यक्त कर रहे हैं। वे आगे बढ़ने और अपने ही लोगों से कटते जाने की संस्कृति को भयावह रूप से मनुष्यविरोधी मानते हैं। मुक्तिबोध के आदर्श को रेखांकित करते हुए मलयज लिखते हैं, "इस बिरादरी से बाहर जाना बिरादरी की आत्मा में घाव करना है, उससे जुड़े हुए अपने रग रेशे काटना है। अकेला हो जाना है, वैयक्तिक हो जाना है। हम ऐसे वर्ग समय में रह रहे हैं, जिसमें अगर आगे बढ़ना है तो साथ-साथ इकट्ठा, संयुक्त अन्यथा वह आगे बढ़ना अपनों को कुचलकर आगे बढ़ना होगा। यह एक ऐसा वर्ग समय है, जिसमें प्रत्येक सफलता के पीछे एक हत्या छिपी हुई है, तड़क-भड़क के पीछे दीन आत्मा का विराट सूनापन। जो मारा जाएगा, वह कमज़ोर होगा; निहत्था होगा, दौड़ में कहीं

पीछे छूट गया होगा। आज हम एक ऐसे वर्ग समय में रह रहे हैं; जिसमें अकेले बढ़ना एक अमानवीय कर्म है।'' मलयज कहते हैं कि मुक्तिबोध की चेतना में यह वर्गबोध एक बुनियादी जीवन मूल्य की तरह है–''मुक्तिबोध ने हमेशा वर्गबोध को एक स्पृहणीय मूल्य की तरह अपनी अनुभूतियों में जिया, उसे हमेशा एक शपथ तलवार की तरह अपने सीने पर रखा। वर्गबोध जैसे एक कसौटी से जीवन-संघर्ष को अर्थ देने के लिए।''

मलयज इस बात को भी सामने लाते हैं कि मुक्तिबोध भारत-जैसी पुरानी सभ्यता में समय के इस संक्रमण को आम मनुष्य की चेतना में उसके सबसे जटिल रूपों में खोजते हैं। हमारा समाज न आज वह परंपरागत सरल और अपने में सिमटा हुआ कृषि समाज रह गया है और न ही औद्योगिक सभ्यता से उपजा एक पूर्णतया वैज्ञानिक सोच वाला समाज है। इस समय और समाज में औसत हिन्दुस्तानी की चेतना के अनेक स्तर हैं। उसमें एक तरफ़ अतीत है तो दूसरी तरफ़ भविष्य का छायालोक। एक तरफ़ आदर्श का रोमान है तो दूसरी तरफ़ निपट यथार्थ का नंगापन। इस आदमी के द्वंद्व को पहली बार मुक्तिबोध का साहित्य बहुत निकट से चित्रित करता है। ''यह आदमी न ज़्यादा गहरे में है, न उथले में। यह वर्तमान में रहते हुए भविष्य के छाया लोक में जीता है और अतीत के समयसिद्ध सत्यों को अपने रुधिर में धड़कते हुए पाना चाहता है। उसे यथार्थ भी चाहिए और आदर्श भी।'' ये सारी जटिलताएँ इस औसत मनुष्य की चेतना में गाँठें पैदा करती हैं। यह एक नई तरह का तनाव है। इस मनुष्य में जीने की जिजीविषा और उदासी एक साथ है।

ऐसा माना जाता है कि मुक्तिबोध का रचना संसार बहुत ज़्यादा एकरस है। मुक्तिबोध की रचना की संरचना पर बात करते हुए मलयज उनकी रचना की एकरसता को एक नए वैशिष्ट्य के रूप में परिभाषित करते हैं। मलयज के अनुसार मुक्तिबोध के साहित्य में सतह का आदमी इस स्थिति को जीते हुए अपने वर्तमान में स्थगित है। उसके साथ सब कुछ घटते हुए कुछ नहीं घट रहा है। यह एक विपर्यय है। यह एक विडंबना है, जो मलयज के अनुसार महान एकरसता से पैदा हुई है, जो मनुष्यों और चीजों के बीच आत्म और अनात्म के बीच आसन मारकर बैठ गई है। मलयज कहते हैं कि यह महान एकरसता मुक्तिबोध के सभी लंबी कविताओं में दिखाई देती है। यही वजह है कि मुक्तिबोध की कविताओं में लय की विविधता नहीं है। एक समान संघर्ष की लय सब कुछ विशिष्टताओं को निरस्त कर देती है। उनके काव्य, काव्य शिल्प के बुनियादी पैटर्न भी आपस में मिलते-जुलते हैं। 'मुक्तिबोध ने औसत आदमी की बुनियादी पहचान, उस महान एकरसता के साथ अपने को तदाकार कर लिया था।'

मुक्तिबोध भले ही सतह के तथ्यात्मक रूप को रचना के केन्द्र में लाते हैं,

पर यह रूप श्लथ नहीं है। मलयज के अनुसार सतह के ये तथ्य विचार के संकेन्द्रण से फैलते हैं। यह औसत को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम है। औसत को उसकी अनेक स्तरीय जटिलताओं के साथ। मलयज लिखते हैं, ''सतह का संपर्क हमारा सबसे तात्कालिक, सबसे निकट और सबसे आत्मीय संपर्क है। सतह का अनुभव सामान्य दुःख-सुख और संघर्ष का अनुभव है। इस अनुभव को विशिष्ट या उदात्त नहीं—उसे बड़ा बनाना—इतना कि वह सब जन के सुखों-दुःखों और संघर्ष को छू ले—उसे महानता का आयाम देना है। अपनी रचनाओं में मुक्तिबोध ने एक साथ इन तीन आयामों को हासिल करने की कोशिश की है। ऊँचाई और गहराई—विशिष्ट और उदात्त के आवाहन और ब्यौरे उनकी रचना में सतह के ब्यौरों से कम नहीं, पर उन्हें उन्होंने सतह की हानि पर नहीं पाना चाहा।''

मलयज मुक्तिबोध के सा।हेत्य में एक और असाधारण तत्त्व को रेखांकित करते हैं कि मुक्तिबोध का ज़ोर भावनाओं या संवेगों को उभाड़ने पर नहीं, आम मनुष्य की विचारशीलता को जगाने पर था। वे कहते हैं, ''मुक्तिबोध की हर रचना सोचने के क्रम को औसत आदमी की आँखों में एक विज्ञान-स्वप्न की तरह फेंकती है...विचार काल के आयाम में मानव अस्तित्व का विचार है।'' मलयज के अनुसार यह मानव अस्तित्व के विस्तार की बहिर्दिशा है। दूसरी ओर वे मनुष्य के अंतर्जगत की भावदशाओं के अँधेरे जगत को भी अपने साहित्य में आलोकित करते हैं। मुक्तिबोध मनुष्य को उसके सबसे तात्कालिक अनुभव जगत में पकड़े हुए उसकी सामर्थ्य को भी अपने सामने रखते हैं। इस तरह यह एक अनेकस्तरीय व्यंजना का साहित्य है। मुक्तिबोध औसत मनुष्य को न तो केवल अनुभववाद के सीमित संसार में क़ैद करते हैं और न ही उसे मात्र एक वायवीय आदर्श के धरातल पर रखते हैं।

मलयज मुक्तिबोध के मनोजगत में जितना एक आलोकित विचार सत्य की उपस्थिति को नोट करते हैं, उतना ही भीतरी संसार के जटिल और अँधेरे कोनों को। मलयज इस तथ्य को भी रेखांकित करते हैं कि मुक्तिबोध के रचना संसार में प्रत्यक्ष और फ़ैण्टेसी दोनों की मिली-जुली उपस्थिति है। उनमें तथ्य और अनुभूति दोनों का सुयोग है।

एक और सर्वथा मौलिक बात मलयज ने मुक्तिबोध की रचना में रेखांकित की है कि मुक्तिबोध स्मृति के नहीं, इतिहास के रचनाकार हैं। मलयज स्मृति और इतिहास के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, ''इतिहास वह ठोस तथ्य सामग्री है, जिससे मानव-भविष्य की इमारत बनेगी, जबकि स्मृति सिर्फ़ घटित का स्मरण अनुचिन्तन है। इतिहास में एक कर्म प्रेरणा है।'' इसी विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए मलयज ने मुक्तिबोध की रचना में खुरदुरेपन, धूल-धूसरता और बेबाकपन के महत्त्व को भी प्रकाशित किया है। मलयज के अनुसार ये तत्त्व स्मृति के तंद्रिल कुहासे के विपरीत हैं। ''मुक्तिबोध की रचना में हमारे साहित्य-इतिहास के ठोस पदार्थ खंड

है, उसकी तरल स्मृति नहीं।''

हिन्दी के अनेक आलोचकों ने मुक्तिबोध के रचना संसार में एक रहस्यवाद की उपस्थिति का उल्लेख कर उनकी आलोचना की है। मलयज यह स्वीकार करते हैं कि मुक्तिबोध के संसार में रहस्य के संदर्भ हैं। उनकी रचना में आंतरिक जगत की अव्यवस्था और तिमिर को रूपायित करनेवाली एक विराट फ़ैण्टेसी और उसके प्रतीक हैं, लेकिन साथ ही वे इस बात का खंडन करते हैं कि मुक्तिबोध के यहाँ रहस्य के ये संदर्भ अतार्किक या बुद्धिविरोधी हैं। वे कहते हैं कि मुक्तिबोध इस तिमिर आच्छादित रहस्य को छायावादियों की तरह किसी मूल्य के रूप में नहीं लाते, बल्कि वे इसे एक वातावरण रचने के लिए लाते हैं। मुक्तिबोध यह मानते थे कि अनेक पर्तोंवाले इस जटिल संसार में कोई भी सच्चाई सीधी, सपाट और इकहरी नहीं है। वे सच्चाई का संपूर्ण प्रतिनिधित्व उसकी समस्त जटिलताओं के साथ कराना चाहते थे। इसलिए वे एक रूपक या फ़ैण्टेसी रचते हैं। मलयज मुक्तिबोध के रहस्यवाद पर यह महत्त्वपूर्ण टिप्पणी भी करते हैं, ''इस रहस्य के मूल में छिपाने की नहीं, तलाश करने की वृत्ति है। मुक्तिबोध की मंशा कुछ टटोलने और मूर्त करने की है, भटकाने या उलझाने की नहीं।'' वे कहते हैं, ''मुक्तिबोध का रहस्य दर्शन एक प्रकार की ज्ञान मीमांसा है। अलबत्ता यह ज्ञान मीमांसा कभी-कभी इतनी तार्किक हो उठती है कि रहस्य दर्शन लगने लगती है।''

मुक्तिबोध की रचनाधर्मिता का मूल बताते हुए मलयज कहते हैं कि औसत को केन्द्र में लाना मुक्तिबोध का आदर्श भी है और संघर्ष भी। लेकिन औसत को केन्द्र में लाने का अर्थ उसे अपनी सतह से ऊपर उठाना भी है। वे कहते हैं कि औसत मनुष्य के भीतर यथार्थ के सारे विद्रूप एहसास के बावजूद एक स्वप्नदर्शिता भी है। जिन क्षणों में वह हृदयद्रावक स्थितियों से गुज़रता है, वह अपनी आत्मबद्धता के कटघरे से बाहर आता है उसका भाव प्रसार होता है और वह शेष दुनिया से जुड़ता है। मुक्तिबोध ने अपनी रचनाओं में भाव प्रसार की इन स्थितियों को रचा है, लेकिन यह उन्हें पर्याप्त नहीं लगता था। वे मानते थे कि भावना सिर्फ़ सतह का स्पंदन है। मानव सत्य का एक भरपूर एहसास सिर्फ़ कर्म से मिल सकता है। मलयज कहते हैं कि मुक्तिबोध को कर्म की यह प्रेरणा वस्तुवाद से मिलती है। वे मानते थे कि वस्तुवाद स्थितियों को पैदा करने के मूल तक ले जाता है, इसलिए मुक्तिबोध के लिए रचना में भाव सत्य, दर्द और क्षोभ के एहसास ही काफ़ी नहीं है; वह विचारशीलता भी अनिवार्य चीज़ थी। इसलिए उनकी प्रत्येक रचना एक स्वप्न भी है और उसे चरितार्थ करने की कोशिश भी।

मलयज के शब्दों में, ''मुक्तिबोध बार-बार उस सतह के आदमी को इतिहास के मलबे से बाहर निकालने की कोशिश करते हैं।'' यही उन्हें अन्य रचनाकारों के बीच विशिष्ट बनाता है।

(ग) शमशेर और मलयज

शमशेर बहादुर सिंह आधुनिक हिन्दी कवियों में एक अनूठे कवि हैं। उन्हें 'कवियों का कवि' कहा गया है। वे मूलतः सौन्दर्य के कवि है। लेकिन यह सौन्दर्य इस धरती के साधारण यथार्थ के बीच से जन्मा है। शमशेर की कविता में प्रेम, अवसाद, करुणा और कसक के रंग तो हैं ही, प्रकृति के क्षण-क्षण बदलते रूप और चित्रों पर उन्होंने बहुत सारी कविताएँ लिखी हैं।

शमशेर की कविता की यह विशेषता है कि वह जितना प्रकट करती है, उतना ही छिपाती है। वह क्षण-क्षण घटते सौन्दर्य-बोध से एक गहरी संपृक्ति है। उसमें बाहरी दुनिया का यथार्थ और मनोभावों का एक जटिल संरचना है। अनेक विरोधी भावों का संपुंजन है। वैयक्तिक और सामाजिक पीड़ा का एक विचित्र मिलन है। शमशेर मार्क्सवाद से प्रभावित रहे हैं, लेकिन उनका यथार्थ-बोध बाहरी और सपाट नहीं है। उनमें बिम्बों और संकेतों की अनेकस्तरीय सघनता है। 'मैं' और 'पर' का एक जटिल विलयन है। उनका कलात्मक परिष्कार, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध, प्रयोगशीलता, शिल्प चेतना और भाषित अभिव्यक्ति उन्हें एक दुर्बोध कवि भी बनाती हैं। शमशेर ने अनेक रंगों की और अनेक प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। मार्क्सवाद और सामाजिक चेतना की दृष्टि से प्रतिबद्ध होते हुए भी वैयक्तिक राग, प्रेम, कामना और सौन्दर्य की चेतना को उन्होंने अकुंठ भाव से उतारा है। सामाजिक चेतना और रोमान उनके यहाँ विरोधी तत्त्व नहीं हैं, बल्कि मनुष्य के एक संपूर्ण राग संसार की सृष्टि करते हैं। वे वर्जनाओं को तोड़ते हुए मन के अत्यंत कोमल मनोभावों के कवि हैं। एक विशिष्ट क़िस्म की पवित्रता और पारदर्शिता की ओर वे बढ़ते हैं। उनकी भाषा आम बोलचाल की है, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति भाषा में एक विलक्षण ऐन्द्रिकता में लिपटे अमूर्तन को रचती है।

शमशेर की काव्य चेतना पर एक साथ इतने अलग-अलग, कई बार परस्पर विरोधी लगते तत्त्वों का प्रभाव है कि उनकी कविता की व्याख्या आसान नहीं रही है। डॉ. नामवर सिंह ने शमशेर की कविताओं के बारे में लिखा है, ''शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का जो एक प्रभावशाली भवन अपने हाथों तैयार किया है, उसमें जाने में मुक्तिबोध को भी डर लगता था—उसकी गंभीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण।'' नामवर जी आगे लिखते हैं, ''इस पवित्रता का एहसास मुझे भी है और डर भी कम नहीं। अंदर जाने से उस पवित्रता में शायद ख़लल पड़े। इसलिए बाहर-बाहर की परिक्रमा। बाहर से अंदर की जो भी झलक मिल जाए, उसी से संतोष करना पड़ेगा।'' (*शमशेर बहादुर सिंह : प्रतिनिधि कविताएँ*, सं. डॉ. नामवर सिंह)

डॉ. नामवर सिंह का यह दृष्टिकोण एक कवि से अभिभूत होकर बना है, इसलिए उसमें काव्य रचना के वस्तुजगत विश्लेषण की बात नहीं है। शमशेर की कविता

के साथ यही कठिनाई रही है। वामपंथी आलोचक बिना उनकी कविता का विश्लेषण किए सिर्फ़ उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण उन्हें अपना कवि मानते रहे हैं तो दूसरी ओर कलावादी खेमा शेमशेर के वस्तुबोध और सामाजिक दृष्टि की व्याख्या किए बिना उनके सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध पर रीझता रहा है। शमशेर की कविता की संरचना को खोले हुए उसके मर्म तक पहुँचने के प्रयास हिन्दी में इक्का-दुक्का ही हुए हैं; और ऐसे प्रयासों में मलयज द्वारा किया गया शमशेर का विश्लेषण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मलयज शमशेर के निकट संपर्क में रहे थे, लेकिन अपने विश्लेषण में वे शमशेर के प्रति अधिकतम सीमा वस्तुनिष्ठता का निर्वाह कर सके हैं। यह उनका साहस और ईमानदारी है कि उन्होंने शमशेर के बारे में अनेक खरी-खरी टिप्पणियाँ भी की हैं, जो आगे के लिए बहस का आधार बनेंगी।

मलयज ने शमशेर की भावभूमि और उनकी अभिव्यक्ति शैली की जटिलताओं को मलयज ने बहुत तटस्थ ढंग से समझने की कोशिश की है। शमशेर पर पहला लेख उन्होंने 'शमशेर और आधुनिक कविता' 1960 ई. में लिखा था। यह संभवतः मलयज का पहला आलोचनात्मक लेख है। लेख के प्रारंभिक अंश मलयज द्वारा ही लेख के साथ दी गई पाद टिप्पणी के अनुसार *ज्ञानोदय* सितंबर 1960 ई. के अंक में प्रकाशित शमशेर की वक्तव्य कविता 'कत्थई गुलाब दबाए हुए है' से उत्पन्न प्रतिक्रियास्वरूप लिखे गए थे। यह लेख अपने पूर्ण रूप में शमशेर की षष्ठीपूर्ति पर 1971 ई. में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और मलयज द्वारा संपादित पुस्तक *शमशेर* में संकलित है। मलयज ने शमशेर पर इसके अलावा दो और महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ दी हैं। एक टिप्पणी 'अंतर्विरोधों के कवि' शीर्षक से उनकी पुस्तक *संवाद और एकालाप* में संकलित है और दूसरा लेख 'बात बोलेगी, पर कब?' शीर्षक से 1971 ई. में लिखा गया था, जो *कविता से साक्षात्कार* में संकलित है। इसके अतिरिक्त अपनी डायरियों में भी समय-समय पर उन्होंने शमशेर के व्यक्तित्व और रचनाधर्मिता पर महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ रखी हैं। 1976 ई. में प्रकाशित *पूर्वग्रह* के शमशेर विशेषांक (अंक 12-13) में उन्होंने नेमिचंद्र जैन के साथ मिलकर शमशेर से एक लंबी बातचीत भी की थी, जिससे शमशेर के व्यक्तित्व और विचार-प्रक्रिया पर महत्त्वपूर्ण रोशनी पड़ती है।

मलयज ने समय-समय पर कई प्रकार से शमशेर के भाव जगत का विश्लषण किया है, वह उनकी सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और विश्लेषणात्मक तीक्ष्णता को तो दर्शाता ही है, वह उनकी तटस्थता और बौद्धिक ईमानदारी का भी परिचायक है। मलयज ने शुरू में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि शमशेर मूड्स के कवि हैं, विज़न के नहीं। वे यथार्थ से प्रभावित तो होते हैं, पर उनकी काव्य मुद्रा, स्वर और मिज़ाज यथार्थ बोध का काफ़ी हद तक अपने ढंग से अनुकूलन कर लेता है। शमशेर यथार्थ से प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष साक्षात्कार करते हैं। मलयज कहते हैं कि जो रचनाकार यथार्थ

से सीधे निपटते हैं, उनके यहाँ यथार्थ की प्रखर अनुभूति रचना-अभिव्यक्ति में एक प्रकार के विपर्यय-बोध को जन्म देती है, जो आधुनिक भाव-बोध का एक ज़रूरी अंग है। लेकिन शमशेर-जैसा कवि यथार्थ को जब परोक्ष ढंग से आत्मसात करता है तो वह अपनी अनूभूति में इस यथार्थ को इस हद तक रूपांतरित कर देता है कि पाठक को यथार्थ की तल्ख़ी नहीं, अनुभूति के विशेषीकरण का एहसास होता है। इस तरह मलयज शमशेर के व्यक्तित्व के बुनियादी अंतर्विरोध को रेखांकित करते हैं और इससे अपने कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं।

मलयज के अनुसार, ''शमशेर का यथार्थ-बोध उनकी मनोरचना के आंतरिक ताप से परिशुद्ध किया हुआ (कंडीशंड) यथार्थ-बोध है।'' यह उनका कवि-स्वभाव है। शमशेर चेतना के तनाव को किसी कर्म-प्रवाह में बह जाने नहीं देते। यथार्थ की सीधी चुनौती को झेलना उनकी प्रकृति में नहीं है; और इसका परिणाम यह होता है कि यथार्थ-बोध शमशेर की कविताओं में ''एक बहुत गहरी विवश करुणा-भावना के रूप में रूपांतरित होता है।'' मलयज यहाँ यह भी जोड़ते हैं कि शमशेर की इस करुणा में आत्मदया का भाव नहीं है। वह सारे आघातों से गुज़रने के बाद उत्पन्न हुए धैर्य से जुड़ी करुणा है। मलयज के अनुसार शमशेर की कविता में भले ही यथार्थ के तात्कालिक बोध की तीव्रता न हो, पर यथार्थ-बोध उनके कवि के भीतर एक काँटे की तरह रिसता रहता है। कुछ कविताओं में शमशेर ने सीधे यथार्थ के प्रति अपने को संपृक्त किया है पर वह उनका मूल कवि-स्वभाव नहीं है। मलयज शमशेर की ऐसी कविताओं को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते।

मलयज कहते हैं कि शमशेर की कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य की शाश्वत खोज की भावना छिपी हुई है। लेकिन शमशेर का स्वभाव हमेशा एक अमूर्तन की ओर बढ़ने का है। उनकी अनुभूति में एक ख़ास तरह की चमक है। मलयज के शब्दों में यह 'चमक' कवि के मन में व्याप्त उस यथार्थ-बोध की चेतना का ही सूक्ष्म ताप है, ज़ो सीधी अनुभूति के स्तर तक न आकर गहरी करुणा के पारदर्शी रूप में व्यंजित होती है—यह कवि के भावों में निहित मानव-मन की पीड़ा की सघनता का अमूर्त आलोक-द्रवण है। मन की यह पीड़ा वर्ण के सूक्ष्म भौतिक स्पर्श से संवेदित होकर एक अर्द्ध-सम्मोहित अवस्था में रूपाकार ग्रहण करती है।

शमशेर के कवि-स्वभाव की मूल विशेषताओं का ज़िक्र करते हुए मलयज इस बुनियादी समस्या को उठाते हैं कि शमशेर रचना में अपनी अनुभूति का सामान्यीकरण ही करते। इससे उनकी कविता में संप्रेषणीयता का संकट पैदा हुआ है। शमशेर की कविता अक्सर कविता के जागरूक पाठक के लिए भी दुरूह बनी रहती है। मलयज यहाँ शमशेर की काव्य-संरचना से गहरा सरोकार रखते हुए भी एक तटस्थ और लगभग निर्मम तरीक़े से उनकी इस दुरूहता पर अपने विचार रखते हैं। मलयज ने यह महत्त्वपूर्ण मुद्दा उठाया है, ''प्रेषणीयता के किसी भी प्रश्न को यह कहकर नकारा नहीं जा सकता

कि महान कलाकार अपने कला-व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देकर ही अपनी सार्थकता सिद्ध कर लेता है और उसके सामने अपनी कला के प्रति सच्चे होने के अतिरिक्त कोई दायित्व नहीं है।'' मलयज इस अवधारणा से बिलकुल सहमत नहीं हैं। वे आधुनिक समय में कलाकार और रसिक के एक अनिवार्य संबंध को तरज़ीह देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यदि कला संप्रेषित नहीं होती तो यह कलाकार का अधूरापन है। मलयज के ही शब्दों में, ''एक सच्चा और जागरूक कवि कलाकार हमेशा एक दायित्व अपने कवि-व्यक्तित्व के प्रति पूरा करता है और अपने समाज के उस व्यक्ति के प्रति जिस तक अपनी काव्य-अनुभूति संप्रेषित कर वह अपने कवि-कर्म की सार्थकता अनुभव करता है।''

इसमें कोई संदेह नहीं कि मलयज बीसवीं सदी में आधुनिकता के तमाम आंदोलनों की तर्क-प्रणाली से गहरे संपृक्त होते हुए भी इस बात के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाते कि कलाकार की असाधारणता को इतना अधिक महत्त्व दिया जाए कि कलाकार और रसिक के बीच एक फाँक पैदा हो जाए। मलयज के लिए यदि कला की अद्वितीयता का महत्त्व है तो सामाजिक प्रक्रियाओं और भाव के धरातल का भी उतना ही महत्त्व है। वे कला की स्वायत्तता और समाज निरपेक्षता में एक हद तक ही यक़ीन करते हैं। यह बात शमशेर की कविता के बहाने सामान्य रूप से रखे गए उनके इस विचार से स्पष्ट हो जाती है। वे कहते हैं कि 'महान कला' और 'महान व्यक्तित्व' वाला दृष्टिकोण आज की जनतांत्रिक मनोवृत्ति के विरुद्ध आत्यंतिक व्यक्तिवादी और रोमांटिक दृष्टिकोण है। जो लोग यह कहते हैं कि आज का आधुनिक कवि व्यक्तिवादी और विकृत अहम्‌वादी है, वे प्रारंभ से ही ग़लती करते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि वह अन्य युगों की अपेक्षा अधिक सामाजिक है।

मलयज आधुनिक समय में सारी कलाओं के अनिवार्यतः समाज-सापेक्ष होने की धारणा से पूरी तरह सहमत हैं। मयलज का संप्रेषणीयता पर आग्रह है। शमशेर की कला की दुरूहता पर चर्चा करते हुए उन्होंने आधुनिक युग में कलाकार की विरोधाभासी स्थिति पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है। मलयज के अनुसार यह हमारे समय का एक बड़ी विडंबना है कि आधुनिक काल में हम जीवन को उसकी समग्रता में समझना चाहते हैं पर आज के नए आधुनिक कवि का काव्य व्यक्तित्व ही मूल रूप से खंडित है। वह जीवन को खंडों में जीता है। उसकी जीवनानुभूति और उसकी कलानुभूति के आपसी संबंध तनावपूर्ण हैं। वह सजग है, लेकिन अपने समग्र को व्यक्त नहीं कर पाता। यह कला में सम्प्रेषणीयता की समस्या को पैदा कर देता है।

महत्त्वपूर्ण वात यह है कि मलयज एक ओर जहाँ उस संप्रेषणीयता के संकट पर बेलाग टिप्पणी करते हैं, वहाँ उनकी सहानुभूति उस कला से तो क़तई नहीं है; जो यांत्रिक तरीक़े से अभिव्यक्ति को संप्रेषणीय बनाती है। मलयज के अनुसार वहाँ तो अनुभूति के ताप को चुका कर संप्रेषणीयता हासिल की गई है, जो किसी भी

दृष्टि से वांछनीय नहीं है; क्योंकि वह एक कृत्रिम कला है। संप्रेषणीयता से मलयज का आग्रह जीवंत संप्रेषणीयता से है।

वस्तुतः शमशेर पर विचार करते हुए मलयज की अपनी एक बुनियादी दुविधा भी है। एक ओर उन्हें कला की रसिक निरपेक्ष स्थिति स्वीकार नहीं है तो दूसरी ओर उनका एक आरोपित संप्रेषणीयता में विश्वास नहीं है। मलयज का आदर्श एक ऐसी कला में है, जो अपनी समस्त अद्वितीयता के बावजूद भावुक को भी सहभागिता का उतना ही सहज आमंत्रण देती हो। ऐसी कला, जिसमें भावक की अपनी सत्ता का लोप न हो जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो कलाकार गहरा भले ही हो, पर उसमें विस्तार नहीं है। इसीलिए शमशेर की कला के गहरे विवेचन के बावजूद मलयज इस निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं, ''वह संवेदनशील भावुक वर्ग जो वर्तमान जीवन-संदर्भों में अधिकाधिक जागरूक, विवेक सम्पन्न तथा समसामयिकता के प्रति उन्मुख होता जा रहा है, और जिसकी दृष्टि में चाहे ऊँचाई न हो, विस्तार अवश्य है, शमशेर की कविताओं के साथ क्रियात्मक योग स्थापित कर पाने में कठिनाई का अनुभव करता है। वह उनके उत्कृष्ट रूप-तंत्र और परिष्कृत काव्य-वस्तु से चमत्कृत और मुग्ध भले हो जाए, उससे आत्मीय नहीं हो पाता।''

यह आकस्मिक नहीं है अपनी इस प्राथमिकता के कारण ही मलयज ने शमशेर पर अपने एक अन्य निवंध 'अंतर्विरोधों का कवि' में एक अन्य महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है, ''शमशेर का अंतर्विरोध उनका एक स्थायी भाव है। इसलिए उनकी कला में धीरे-धीरे अप्रत्याशितता समाप्त हो गई है। इसीलिए वह कविता अब कोई तनाव पैदा नहीं कर पाती—अपने आनेवाले संभावित पाठक के लिए।'' शमशेर के कलाकर्म के प्रति सारे सम्मान के बावजूद मलयज का यह निष्कर्ष बहुत साहस और निर्भीकता से भरा हुआ एक निष्कर्ष है, ''शमशेर जी की कविता आपको इस नियति के संसार से बाहर तो ले जाना चाहती है; उसका सम्मोहन और उसके शिल्प की शक्ति भी कुछ ऐसी है कि आप कभी-कभी बाहर चले भी जाते हैं; पर आपके साथ यह एहसास एक पीली छाया की तरह बराबर लगा रहता है कि आप अपने साथ छल कर रहे हैं।''

मलयज की आलोचना का गुणधर्म

प्रख्यात आलोचक टी.एस. इलियट ने कहा है कि एक नई प्रतिभा न सिर्फ़ अपने समय की मौलिक ढंग से व्याख्या करती है, बल्कि परंपरा में चले आ रहे अर्थ को भी परिवर्तित करती है। हिन्दी में मलयज इसी तरह के आलोचक थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य में नेहरू युग के बाद की रचनाधर्मिता और उसके परिवेश को समझने-विश्लेषित करने में अपना योगदान दिया है और इस बिन्दु पर खड़े होकर परंपरा में परिभाषित रचनाधर्मिता के कुछ बिन्दुओं को भी एक नए सिरे से व्याख्यायित करने में अपना हस्तक्षेप किया है।

मलयज ने मूलतः अपने समय की काव्य-विधा पर आलोचना लिखी है। हालाँकि कतिपय गद्यकारों पर भी उन्होंने लिखा है। मलयज सृजनधर्मी रचनाकार भी थे और आलोचक भी। इसलिए उनकी आलोचना का मिजाज एक विशुद्ध अकादमिक आलोचक की आलोचना से अलग तरह का है। एक गहरी संवेदनशीलता और लगाव के साथ वे कृति के आंतरिक संसार में उतरते हैं। रचनात्मकता के अंदरूनी ताप के साथ अपना रिश्ता बनाते हैं। वे कृति के संसार की आंतरिक गुत्थियों से एक समानांतर रचनाकार की हैसियत से एकाकार होते हैं; और फिर एक आलोचक के रूप में इस अनुभव जगत से एक ज़रूरी तटस्थता का भी निर्वाह कर लेते हैं। हृदय और मस्तिष्क दोनों ही वहाँ सक्रिय हैं।

मलयज की पहली आलोचना पुस्तक (और संभवतः उनके जीवन काल में प्रकाशित उनकी एकमात्र आलोचना पुस्तक *कविता से साक्षात्कार* 1976 ई. में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के पहले ही निबंध 'कविता से साक्षात्कार' में मलयज अपने रचनाकार और अपने आलोचक के आपसी संबंधों को विश्लेषित करते हुए एक कवि-आलोचक के विशिष्ट गुणधर्मों को रेखांकित करते हैं। वे कहते हैं, ''कविता मेरे लिए अपने अनुभव को महसूस करने और उसे रचने का नाम है और आलोचना उस कविता को खोजने का। मैं कविता में जो रचता हूँ, आलोचना में उसी को पहचानता हूँ। कविता मेरे लिए एक आत्म-साक्षात्कार है और आलोचना उसी कविता से साक्षात्कार।'' यह एक सामान्य धारणा बनी हुई है कि कृति और आलोचना के संसार

एक-दूसरे के सामने खड़े प्रति-संसार हैं। आलोचक की दृष्टि कृतिकार की संवेदना से जूझती टकराती एक तटस्थ और निरपेक्ष दृष्टि है, जिसका कार्य केवल मूल्य-निरूपण करना है। मलयज इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं, "आलोचना का संसार कविता के संसार का विरोधी उसका विलोम या उसका प्रतिद्वंद्वी संसार नहीं है, बल्कि वह कविता से लगा हुआ समानांतर संसार है। ये दोनों संसार अपनी-अपनी जगह पर स्वतंत्र सर्वप्रभुता संपन्न संसार हैं, पर दोनों के बीच एक मित्रता की संधि भी है। दोनों एक-दूसरे पर अपनी शर्तें और प्रतिज्ञाएँ आरोपित नहीं करते, उनकी एक-दूसरे के हितों में आपसी दिलचस्पी है।"

मलयज के बहाने एक कवि-आलोचक द्वारा लिखी गई आलोचना के मूल गुणधर्म की विवेचना करते हुए यह एक दिलचस्प मुद्दा उभरता है कि एक कवि के सरोकार कहाँ पर आलोचना-कर्म से जुड़ते हैं और कहाँ पर अलग हो जाते हैं। वह कौन-सी जगह है, जहाँ हमें दो पृथक् सत्ताएँ दिखाई पड़ने लगती हैं? मलयज अपने इस निबंध में इस स्थिति को समझने का एक सूत्र देते हैं। वे कहते हैं कि "कविता कुछ भी सिद्ध नहीं करती, सिवाय एक अनुभव को रचने के। आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती सिवाय उस रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ विस्तार देने के। अर्थ का एक व्यापक संसार है, जिसमें वह अनुभव है और उस अनुभव में कविता है और आलोचना भी। अनुभव ही कविता को आलोचना से जोड़ता है, पर कविता में इस जुड़ने की भाषा अनुभूति है और आलोचना में विचार।" प्रकारांतर से यह भी कहा जा सकता है कि कविता यदि अनुभव का विशेषीकृत और आत्मनिष्ठ रूप है तो आलोचना में उस अनुभव का सामान्यीकृत और वस्तुनिष्ठ विमर्श है। मलयज की आलोचना में रचना के इस विशेषीकृत रूप से तादात्म्य स्थापित करने और उसके एक वृहत्तर और सामान्यीकृत वस्तुनिष्ठ आशयों को पहचानने की ख़ूबियाँ एक साथ विद्यमान हैं। उनकी आलोचना का विवेक रचना के साथ की गई एक हिस्सेदारी से जन्मा विवेक है। रचना का अनुभव उनकी आलोचना में अपना विस्तार पाता है। आलोचना-कर्म उनके लिए रचनात्मक अनुभव का पुनर्प्रकाशन है। उसमें एक नए आयाम की खोज है। यह हृदय और बुद्धि का एक द्वंद्वात्मक संबंध है। मलयज ने एक जगह अपनी डायरी में लिखा है, "कविता अगर हृदय की मुक्तावस्था है तो आलोचना ज्ञान की मुक्तावस्था है।"

मलयज के लिए दूसरे की रचना-प्रक्रिया में उतरना और उसे समझना, विश्लेषित करना सहज था। रचनात्मक संलग्नता के साथ वे उन बिन्दुओं को देख सकते थे, जो अक्सर अकादमिक आलोचक की दृष्टि से ओझल रह जाते हैं। निराला की कृति 'सरोज स्मृति' पर लिखी उनकी समीक्षा इस बात का अच्छा उदाहरण है, जहाँ वे अनुभव की निर्मिती का अंदरूनी साक्ष्य देते हैं। एक अप्रतिम तदनुभूति के साथ वे 'सरोज स्मृति की रचना-प्रक्रिया' का उद्‌घाटन करते हैं। वे निराला एक व्यक्ति और

निराला एक रचनाकार के द्वंद्व को एक साथ समझते हैं। व्यक्तिनिष्ठता (subjectivity) और वस्तुनिष्ठता (objectivity) के इस संबंध को एक तीव्र संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के साथ ही समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कि वे निराला की नहीं, अपनी स्वयं की रचना-प्रक्रिया का उद्घाटन कर रहे हैं। मलयज रचना-प्रक्रिया में उन सभी बिन्दुओं को रेखांकित करते हैं। जो किसी अनुभव को संश्लिष्ट बनाते हैं। 'सरोज स्मृति' की रचना-प्रक्रिया का आंतरिक तहों में उतरने वाली उनकी सघन आलोचनात्मक भाषा हिन्दी आलोचना का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। मलयज की आलोचना की यह विशेषता है कि वह एक रचे जा चुके अनुभव में बाहर से भीतर की ओर यात्रा करती है और अनुभव के उत्स तक पहुँच सकती है।

अन्य की रचना-प्रक्रिया की इतनी आंतरिक पर्तों में उतरने का अर्थ यह भी है कि आलोचक विभिन्न स्तरों पर एक रचना के अर्थ को पा रहा है। उसके पास पूर्व निर्धारित निष्कर्ष नहीं, एक मूलभूत जिज्ञासा है। वह रचनाकार के मनोविज्ञान, सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ और रचनात्मक औज़ारों के आपसी संबंधों की गुत्थियों को खोल रहा है। वह एक व्यक्ति से रचनाकार तक की या एक रचनाकार से व्यक्ति तक की वापसी यात्रा को कर सकता है। इस आलोचना में एक हिस्सेदार विवेक है। रचना से रागात्मक लगाव के साथ ही एक बौद्धिक तटस्थता और स्पष्टता के आग्रह को हर जगह मलयज के विश्लेषण में देखा जा सकता है। ऐसी आलोचना रचना-प्रक्रिया से एक निकट संबंध बनाते हुए और सारी भावात्मक प्रगाढ़ता के बावजूद अपनी बुनियादी प्रतिज्ञाओं और अपेक्षाओं को कहीं ओझल नहीं होने देती।

आधुनिक रचना का जन्म जिस भारतीय देश-काल और परिस्थितियों के बीच हुआ है, वह जटिल और बहुस्तरीय है। उसमें तमाम तरह के अंतर्विरोध और गाँठें हैं। यह कृषि-समाज और औद्योगिक समाज के बीच फँसी हुई आधुनिकता है। संक्रमणकालीन समय में न हम पूरी तरह परंपरा से बँधे हुए रहे गए हैं और न ही एक औद्योगिक और वैज्ञानिक-सामाजिक ढाँचे की सोच और संवेदना से हम स्वयं को पूर्णतया आत्मसात कर पाए हैं। आज़ादी के बाद के भारतीय समाज की सबसे बड़ी जटिलता और पेचीदगी यही है कि हमारे भाव-बोध और हमारे वैचारिक संसार के बीच फ़ासले हैं। इससे हमारे रचनाकार का जटिल अनुभव-बोध बनता है। आधुनिक रचनाकार के संवेदना-संसार की अनेक तहें और गुत्थियाँ हैं। एक व्यापक समाज में भी हम देखें तो एक ही भारत के भीतर अनेक तरह के भारत हैं। भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समय के अलग-अलग बोध हैं। आज आधुनिक रचनाकार का मानस किसी इकहरे यथार्थबोध से संतुष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के वाह्य सामाजिक-आर्थिक परिवेश की जटिलताओं ने उसकी अस्तित्वगत परिस्थितियों को बेहद कठिन बना दिया है। मनुष्य के राग, आक्रोश, मोहभंग, प्रतिरोध, लाचारी और

जीवन-इच्छा के अनेक रंग हैं। वर्गविभक्त समाज में चेतना की ये नई जटिलताएँ इतिहास के दबावों के बीच घटित हो रही हैं। ये रचना और आलोचना के लिए नए चुनौतियाँ पेश करती हैं। इस भारतीय आधुनिकता को मलयज ने मूल्य-संघर्ष, राग और संवेदना की विशिष्टताओं और भाषा के बर्ताव में समझना चाहा है।

मलयज का समस्त आलोचना-कर्म संक्रमण के समय की द्वंद्वात्मकता से जन्मा है। वे अपने समय को समझने में परस्पर टकराते हुए तत्त्वों की स्थिति और गतिशीलता को नोट करते हैं। वे देखते हैं कि यह टकराव बहुस्तरीय है। अतीत और वर्तमान का टकराव, परंपरा और आधुनिकता का टकराव, वर्चस्व और अधीनता का टकराव, इतिहास और चिरंतनता का टकराव, यथार्थ और कल्पना का टकराव, सत्य और आभास का टकराव, मिथकीय बोध और वैज्ञानिक सोच का टकराव, भीतर और बाहर का टकराव, देह और आत्मा का टकराव, पदार्थ और चेतना का टकराव, संपूर्णता और विखंडन का टकराव, स्वप्न और यथार्थ का टकराव इत्यादि। ज़ाहिर है मलयज जैसे आलोचक के विश्लेषण का दायरा जब इतने स्तरों तक फैला है तो उनकी समूची आलोचना में एक ग़ज़ब की कसमसाहट और गतिशीलता है। वे आपस में टकराते तमाम तरह के तत्त्वों और द्वंद्वात्मकता के बीच उस रचनात्मक आंतरिकता को पहचानना चाहते हैं, जो विभेद और सामंजस्य के मेल से जन्मती है। जिसमें एक मौलिक क़िस्म का तनाव होता है इसीलिए एक नई तरह की भाषिक गतिशीलता भी होती है।

मलयज के समय तक समाजशास्त्र और सांस्कृतिक अध्ययनों ही नहीं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भी इतना विकास हो चुका था कि मलयज इन तमाम नए औज़ारों से लैस होकर रचनाकार के जगत में प्रवेश करते हैं। रचना उनके लिए समूचे युग की गवाही देनेवाला सबसे विश्वसनीय माध्यम है। वहाँ न सच का ताप छिपता है और न झूठ का आडंबर। बाहरी संसार की स्थूल घटनाएँ और रचनाकार का मनोजगत रचना के धरातल पर एक-दूसरे मुठभेड़ करते हैं। रचना की भाषा इस मुठभेड़ को उसकी नाटकीयता और तनाव में संजोती और ढोती है। भाषा कृति की संरचना का आधार है, इसलिए कृति की भाषा का यह अर्थगर्भ संसार ही मलयज को एक वस्तुपरक निष्कर्ष तक पहुँचाने में मदद करता है। इस भाषा का विश्लेषण करते हुए ही वे कृतिकार के मानसिक जगत के चेतन-अवचेतन और ज्ञात-अज्ञात कोनों-अतरों को उजागर कर देना चाहते हैं। वे रचनाकार के सचेत विचार जगत और उसकी अस्तित्वगत जटिलताओं से उभरे आंतरिक अभिप्रायों की परस्परता को पकड़ते हैं। वे कृति की संरचना में एक संपूर्ण मनुष्य की उपस्थिति या उसकी अनुपस्थिति की स्थिति को पाठक के सामने रखते हैं।

जिस द्वंद्वात्मकता को मलयज ने अपनी आलोचना-दृष्टि का मूल बनाया है, उसमें शक्ति के ढाँचे के ख़िलाफ़ साधारण मनुष्य की जीवन-इच्छा पर विचार करना उनकी सबसे बड़ी प्राथमिकता थी। वे हमारे समय में वर्चस्व की संस्कृति के ख़िलाफ़

कभी न ख़त्म होनेवाली लड़ाई और उसकी जटिलताओं को आलोचना के केन्द्र में लाते हैं। इस तरह एक उथल-पुथल भरे राजनीतिक सांस्कृतिक समय में साधारण मनुष्य की नियति के विचार को वे अपनी आलोचना का आधार बनाते हैं। मलयज की आलोचना-दृष्टि हर स्तर पर वर्चस्व की संस्कृति के रूपाकारों के प्रति जागरूक है। यह एक प्रकार की प्रतिरोधमूलक (counter hegemonic) दृष्टि से जन्मी संवेदना है, जिसमें राजनीतिक नारेबाज़ी या उसका भड़कीलापन नहीं है; लेकिन सत्ता-संस्कृति के आधुनिक रूपों, जन-समाज में सहमति बनाने के दाव-पेंचों और सत्ता की विचारधारा द्वारा मनुष्य को भीतर से कमज़ोर बनानेवाली प्रक्रिया को लेकर यह आलोचना-दृष्टि हर जगह चौकस है। प्रतिरोधमूलक विचार के बारे में किसी भड़कीली बयानबाज़ी से बचते हुए मलयज अपनी आलोचना में रचनाकार के उस 'स्पेस' को रेखांकित करते हैं, जहाँ बाहरी ताक़तों के ख़िलाफ़ एक रचनात्मक मोर्चा बनता है। दरअसल मलयज की आलोचना वर्चस्ववादी तौर-तरीक़ों के ख़िलाफ साधारणजन के भीतर मौजूद इस 'स्पेस' को देखने और निर्धारित करने की आलोचना है।

भारतीय समाज में निम्नमध्यवर्गीय रचनाकार के अनुभव जगत में अवरुद्ध अनुभवों और दमित कामनाओं की अद्‌भुत जटिलताएँ हैं। मुक्तिबोध से लेकर धूमिल तक की कविता में छठे और सातवें दशक का यह समय नए-नए अनुभव-रूपों में व्यक्त हुआ है। आदर्श और स्वप्न का उछाह, संघर्ष का ताप, उम्मीद और हताशा की मनःस्थितियाँ और एक दुर्दान्त जीवन-इच्छा जगत का पुनः संयोजन—यह सब हमारे हमारी रचनाशीलता को नए धरातलों की ओर ले गया है। मलयज अपनी आलोचना में इन नए धरातलों की शिनाख़्त करते हैं। एक संपूर्ण मनुष्य होने की तड़प, अवरुद्ध अनुभवों का त्रास और जीवन इच्छा की मार्मिकता—इस सबका रेखांकन मलयज की आलोचना दृष्टि के मूल में है। बदलते युग में रचनाकार की भाषा, सौन्दर्यरुचि और अनुभव संजोनेवाले उसके तंत्र का विश्लेषण इस आलोचना में देखा जा सकता है।

मलयज को नई कविता के बाद की कविता मिली थी। इसमें अनुभव का वैभव नहीं, कठिन जीवन स्थितियों में बुनियादी अस्तित्व रक्षा के दबाव थे। अपने परिवेश से एक निपट साक्षात्कार था। मलयज इसके आधार पर बदली हुई काव्य-प्रकृति के मिज़ाज को पढ़ते हैं। वे उसकी संभावनाओं और सीमाओं को बड़े बेलाग ढंग से रेखांकित करते हैं।

कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी ने मलयज के बारे में महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है, "मलयज में निर्मम ईमानदारी के साथ-साथ गहरा और अविचल विनय भी था। वे ज्यों-ज्यों अपने विचारों और संवेदना में परिपक्व और सयाने हुए त्यों-त्यों उनका यह खरापन प्रखरतर और उनकी विनयशीलता और गहरी हुई। यह सच है। यह मलयज की रचना के साथ एक विनम्र संलग्नता ही थी कि अपने फ़ैसले देते हुए

वे बेलाग तो हैं, पर उसमें दंभ की कहीं बू तक नहीं। एक बुनियादी विनयशीलता उन्हें आलोचकीय अमहमन्यता से बचाती थी।''

निष्पक्षता आलोचक के लिए एक बुनियादी गुण है। मलयज इस बात का एक विरल उदाहरण हैं कि कृति को आधार बनाकर आलोचक किस हद तक अपने पूर्वाग्रहों को दूर रख सकता है। यद्यपि यह पूरी तरह संभव भी नहीं है। कवि कुँवर नारायण ने मलयज के बारे में लिखा है, ''उन्होंने सभी कवियों को उसी तरह नहीं पढ़ा, जैसे त्रिलोचन को पढ़ा।'' यह मलयज के लिए संभव नहीं था। यह किसी भी आलोचक के लिए संभव नहीं है कि वह एक समान संलग्नता के साथ और एक समान तटस्थता के साथ सारे रचनाकारों को पढ़े। अपनी रुचियों और अरुचियों के क़ैदख़ाने हमेशा हमारे साथ होते हैं। पर एक अच्छा आलोचक अपनी इस सीमा को भी जानता है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसके सरोकार क्या हैं।

मलयज औसत भारतीयता के जातीय बोध से जुड़े हुए थे। पर भारतीयता का यह ठस, बंद और गैर-द्वंद्वात्मक जातीय बोध नहीं था, आधुनिक समय में पश्चिम से अनेक तरह के प्रभाव हमारी मानसिक संरचना में खपते गए हैं। यह एक अनिवार्य स्थिति है। मलयज इस सबके प्रति खुले हुए थे। इस बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल उनके आदर्श थे। मलयज ने आचार्य शुक्ल की तरह अपनी परंपरा के जीवित अंशों को पहचानते हुए पश्चिम के गतिशील विचारों को अपनाने को एक द्वंद्वात्मक चुनौती के रूप में क़बूल किया था। वे मानते थे कि एक बंद और तनावहीन भारतीयता को गौरवान्वित करने का कोई अर्थ नहीं है। संभवतः यही कारण था कि त्रिलोचन जैसे कवि के यहाँ मौजूद भारतीयता का जातीय बोध उन्हें आधुनिक समय में अपर्याप्त लगता था और उन्होंने इस बारे में खुलकर लिखा। उनके ये विचार एक बुनियादी बहस को आमंत्रित करते हैं। वे कहते हैं, ''मुझे यह साफ़ दीख पड़ रहा है कि आज त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन की भारतीयता को लेकर हम नहीं चल सकते...इनकी भारतीयता में बौद्धिक ऊर्जा की कमी है। ये हद से हद लिरिकल क़िस्म के भारतीय हैं। इनमें टकराहट नहीं है। ये बस अपने को सुरक्षित रखे हुए हैं, अपनी अस्मिता बचाए हुए हैं। बह नहीं गए हैं। एक ज़मीन इनके पास है, उस पर बस टिके हुए हैं। हमें रामचंद्र शुक्ल की भारतीयता चाहिए, प्रेमचंद की भारतीयता चाहिए, गाँधीजी की भारतीयता चाहिए, जिनमें एक ओर अपनी ज़मीन का विवेक था तो दूसरी ओर पश्चिम से टकराने का खुलापन...त्रिलोचन की भारतीयता जैसा बँधा-बँधापन उनमें न था, एक जगह टिकने रहने की भारतीयता उनमें न थी।''

मलयज ने लिखा है, ''आलोचना कुछ भी प्रमाणित नहीं करती, सिवाय एक रचे हुए अनुभव को व्यापक अर्थ-विस्तार देने के।'' लेकिन इस रचे हुए को व्यापक अर्थ-विस्तार देने की प्रक्रिया में ही आलोचना का अपना अनुभव संसार भी दख़ल देता ही है। वह अपने व्यक्तित्व को परे रखकर मूल्य निर्णय नहीं दे सकता। मलयज

ने रचना के साथ सहृदयता, सहानुभूति, एकात्मकता, तटस्थता, धैर्य, विवेक और निरपेक्षता का व्यक्तित्व एक अधिकतम संभव हद तक जिया था। वे रचनात्मक भाषा की गति को पकड़ते थे। उसके आंतरिक लोक में विचरते थे। सिरजे हुए अनुभव में दूसरी बार यात्रा कर सकते थे और इस प्रकार वे आलोचक के अपने 'पाठ' को तैयार करते थे। यह 'पाठ' जो एकात्मक भी था और तटस्थ भी।

ऐसा अनेक बार हुआ है कि मलयज की कुछ कवियों के दृष्टिकोण से सहमति नहीं थी, पर इसके बावजूद वे रचना के सूक्ष्म बिन्दुओं को पकड़ सकते थे। कुँवर नारायण ने लिखा है, ''अज्ञेय से असहमति के बावजूद उनकी कविता के जिन सूक्ष्म बिन्दुओं पर मलयज ने उँगली रखी है, वहाँ तक उन समीक्षकों की भी दृष्टि नहीं गई; जिन्होंने अज्ञेय पर पूरी निष्ठा से लिखा है।'' मलयज चूँकि एक सृजनात्मक समीक्षक थे, इसलिए उनकी समीक्षा की भाषा में भी एक गहन तरलता, लालित्य और राग की उपस्थिति है। वे विचार की एक आंतरिकता को रचते हैं। यह भाषा उनकी बौद्धिक ऊर्जा से तो जन्मी ही है, उनके पारदर्शी व्यक्तित्व और एक निस्पृह क़िस्म की सादगी से भी अनुप्राणित है। उनकी भाषा में तर्क का एक अद्‌भुत आवेग और एक सहज आत्मसंयम एक साथ है। विचार की भाषा में उत्कटता और तटस्थता का यह संयोग अन्यत्र दुर्लभ है। यह भाषा बौद्धिक भार से आपको आतंकित नहीं करती, बल्कि सहयात्रा का निमंत्रण देती है। विश्लेषण करते हुए मलयज ने शायद ही कहीं किसी विचारक का उद्धरण दिया हो। उनके निष्कर्प पूर्व निर्धारित नहीं हैं, बल्कि सीढ़ी दर सीढ़ी वे लड़ियाँ खोलते हुए किसी अप्रत्याशित की ओर बढ़ते हैं। और वे किसी अंतिम सत्य का दावा भी नहीं करते। मुक्तिबोध की तरह वे एक अनवरत ज़िरह करनेवाले यात्री थे।

मलयज ने अपनी आलोचना में जिन मुद्दों को उठाया, वे आज भी हमारे आलोचनात्मक विमर्श के अहम मसले हैं। रचना में स्मृति की भूमिका, इतिहास-बोध के दबाव, समय और मिथक के बनते बदलते संदर्भ, वर्चस्व की राजनीति और उससे उपजे तनाव, समूह और व्यक्ति, यथार्थ और रोमान, बुद्धि और संवेदना के अंतर्संबंध, वस्तुजगत का समय और रचना का समय, फ़ैंटेसी और यथार्थ, रचनाकार की अंतर्निष्ठा और अनुभव का ताप, अंतर्विरोध, तनाव, भाषिक सघनता की समस्या—इन सभी मुद्दों को जब हम अपने समय में परिभाषित करते हैं तो सहसा मलयज के आलोचनात्मक अवदान की स्मृति मन में जागती है। कुँवर नारायण ने मलयज के बारे में बहुत सटीक टिप्पणी की है, ''मलयज की निगाह से कविता को पढ़ना एक कवि की परिष्कृत संवेदना और एक समीक्षक के धीर विवेक से कविता को पढ़ना है।''

मलयज की कविता

मलयज मूलतः कवि ही थे। यद्यपि उनके कवि-व्यक्तित्व पर चर्चा कम हुई है। उनकी कविताओं का रचनाकाल 1951 ई. से 1982 ई. तक फैला हुआ है। उनका पहला कविता-संग्रह *ज़ख़्म पर धूल* 1971 ई. में और दूसरा कविता-संग्रह *अपने होने को प्रकाशित करता हुआ* 1980 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके अलावा मलयज की सैकड़ों कविताएँ या काव्यांश उनकी डायरी के तीनों खंड में बिखरे हुए हैं, जिन्हें उन्होंने औपचारिक रूप से किसी कविता-संग्रह में शामिल नहीं किया।

मलयज की प्रारंभिक कविताएँ, जो उनके निधन के बाद प्रकाशित उनकी डायरी के पहले खंड में हैं, उनकी किशोर वय की अपरिपक्व कविताएँ हैं। मयलज ने इन्हें कभी संकलन के रूप में छपवाया भी नहीं। तुकांत और छंद शैली में लिखी गई ये कविताएँ प्रसाद, महादेवी वर्मा, बच्चन और अंचल जैसे कवियों की शैली की प्रत्यक्ष या परोक्ष नक़ल हैं। इन प्रारंभिक कविताओं में प्रकृति चित्र, अमूर्त पीड़ा के उच्छ्वास, जीवन और जगत के प्रति भावुक रोमान और एक वायवीय दार्शनिकता दिखाई देती है। उस दौर में मलयज ने अंग्रेज़ी में भी कुछ कविताएँ लिखी थीं।

1953 ई. के आस-पास मलयज अतुकांत कविताएँ लिखने लगे थे। 1971 ई. में प्रकाशित पहले कविता-संग्रह *ज़ख़्म पर धूल* की कविताओं का वैचारिक और संवेदनात्मक जगत इलाहाबाद में नई कविता के कवियों के बीच विकसित हुआ थ।

नई कविता युग की विषय वस्तु, भाव-संवेदना और अभिव्यक्ति-शैली का इन कविताओं पर प्रभाव देखा जा सकता है। नई कविता युग के काव्य-बोध और अभिव्यक्ति-शैली की सारी विशेषताएँ अपने परिपक्व रूप में इन कविताओं में आई हैं। *ज़ख़्म पर धूल* की कविताओं का समय पचास के दशक का उत्तरार्द्ध और साठ का दशक है। हमारे निम्न मध्यवर्गीय संसार में विसंगतियाँ और अंतर्विरोध बढ़ते जा रहे थे। राजनीतिक सामाजिक सच्चाइयों की क्रूरता अपने नंगे रूप में प्रगट हो रही थी। वस्तुजगत का अनुभव कविता में एक दैन्य को रचता है।

कवि का एक विखंडित आत्मबोध है। अपने परिवेश के साथ उसका एक तनावपूर्ण संबंध है। उसमें अपनी वैयक्तिकता की चेतना है, लेकिन यह चेतना एक

अलगाव और अकेलेपन की पीड़ा में डूबी हुई है। बाहर का वस्तुजगत अंतर्विरोधों और प्रतिकूलताओं से भरा है। वह इस वस्तुजगत को अपनी भीतर दुनिया में खींच लाना चाहता है। भीतर की दुनिया में भी टूट-फूट है। कोई भी बात सीधी और सरल नहीं है। वस्तुजगत जब भीतर संसार में आता है तो अपने ठोस ब्यौरों के साथ नहीं एक अमूर्तन में ढला हुआ। मूर्त और अमूतन का यह संयोग एक जटिल संसार को रचता है। विद्रूप और व्यंग्य की नाटकीयता अनुभति के केन्द्र में है। बाहरी यथार्थ और परिवेश ठोस रूपों में किसी क्रमबद्धता में संयोजित नहीं होता। सारी बात बिम्बों के माध्यम से कही जाती है। अपने आत्मबोध की स्थिति में एक कसक है—

हाँ महज़ एक फालतू बहाव में हूँ मैं
तुम्हारे लावारिस क्षणों की नदी के सैलाब का
अर्थच्युत अक्षक हूँ एक
प्रलंबित कुंठा की बीजगणित के हिसाब का।

(अहम् पीड़ित एकांत का वक्तव्य)

वैयक्तिक स्थिति का यह बोध अधिकांश कविताओं में एक अमूर्तता के धरातल की ओर बढ़ता है, जहाँ कवि चीजों से तटस्थ होकर अपनी स्थिति को एक अजीब सी नाटकीयता में रचता है :

वहाँ जीभ से अलग कटी पड़ी है भाषा
जहाँ हकला-हकलाकर चीजों को चीजों से जोड़ रही थी
मैंने उसे पाया खिलखिलाकर हँसते हुए मेरा अकेलापन

(हँसते हुए मेरा अकेलापन)

मलयज की इन कविताओं में प्रकृति से गहरी संलग्नता है। सूर्यास्त, आकाश, बादल, धूप, गंध, क्षितिज, जल, पेड़ और मैदानों की उपस्थिति है, लेकिन इनकी वस्तुपरक प्राकृतिक सत्ता नहीं है। उन पर कवि की अपनी मनोजगत स्थितियाँ हावी हैं। 'सूर्यास्त बोलते हैं' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ हैं—

वहाँ
शुक्र धड़कता है
सीने पर हाथ रखकर
रसिक!
चाँद की प्रतीक्षा न कर, न कर
सोने की प्रतीक्षा न कर, न कर
सोने के वर्क में लिपटी
इस अपनी वासना को भी अर्थ दे
नहीं तो देख वह उभड़ती है

गहिन अँधेरे की झाग
लीलने सूर्यास्त!

'कन्या' शीर्षक बहुत कोमल बिम्बों की रचना है। वह एक उल्लास से आरंभ होती है, लेकिन ज्यों-ज्यों कवि आगे बढ़ता है, उसमें मानसिक प्रतिक्रियाओं का अंकन होता जाता है और कविता एक अवसाद की दिशा में चली जाती है–

सुन एक क्षण होता है जिसके इधर झूलता है
बहुत बेलौस दर्द
बहुत पवित्र अहम्
कि तुझको भय से छूता भी नहीं
और जैसे कि तू सोनचिरैया भी नहीं।

मलयज की इन कविताओं में अकेलेपन के अलग-अलग शेड्स हैं। इनमें एक बेचैनी से भरी प्रश्नाकुलता और दबे हुए विद्रोह की ध्वनि है। मन के भीतरी अँधेरे कोने हैं, जहाँ दमित इच्छाएँ प्रतीकों के रूप में व्यक्त होती हैं। नई कविता ने साधारण मनुष्य की दिनचर्या के सच की खोज की थी। दिनचर्या के ये डिटेल्स सीधे और प्रत्यक्ष ब्यौरों से नहीं बनते थे। इनमें मन का भीतरी संसार लिपटा रहता था। उखड़े-उखड़े दिशाहीन समय में कवि का अपना भीतरी मन ही बाहर के संसार में प्रगट होता था। प्रकृति और दिनचर्या का यह मिलन जटिल मनस्थिति बनकर मलयज की कविता में प्रगट हुआ है–

शाम के क़र्ज़ में डूबा पिता का चेहरा
आकाश के पेड़ की तरह तन गया।

(बसंत से पहले)

अनुभूति की इस तरह की नाटकीयता भावबोध में एक अतियथार्थवादी बिम्ब को रचती है। विद्रूप और व्यंग्य इस अनुभूति के केन्द्र में है। किसी अप्रत्याशित की खोज और भावोद्वेलन के स्तर पर ठंडापन इसे एक नए तरह का काव्यबोध बनाती है। शमशेर ने मलयज की इन कविताओं के बारे में कहा है, "विचित्र से व्यंग्य विद्रूप के पीछे समाज में व्यक्ति की करुण ट्रैजिडि है।" शमशेर ने इन कविताओं की "अमूर्त शैली की प्रतीकात्मक चुटकुला फ़िल्मों से तुलना की है।"

इतना स्पष्ट है कि मलयज के पास एक गहरी चाक्षुष ऐन्द्रिकता थी। उनमें एक व्यंग्यात्मक लहजा भी था। यह निम्नमध्य वर्ग के अति साधारण और दैनिक जीवन के चित्रों के अटपटेपन में प्रगट होता था। अपने घिराव को देखने की एक तटस्थता थी उनमें–

गंदे फ़र्श, अस्त-व्यस्त बिस्तर, बिखरे कपड़े मैले
हत्थे टूटे प्याले, मसले अख़बारों
तक़ाज़ों, इलाजों और पार्कों में चरते गधों के बग़ल से ही निकालनी है

जाड़े के दिन आज ख़ूब घनी बदली है और आज ही इतवार है
किसी स्वप्न को देखती नहीं सोचती हुई आँखों में गुबार है
दिल में नहीं
चार दोस्त बैठे हैं बुख़ार के इंतज़ार में
मुर्दनी है लिखी हुई कविता
जो छपी नहीं।

मलयज सीधे अपनी पीड़ा को व्यक्त करने के बजाय एक नाटकीयता का प्रश्रय लेते थे। यह बात उनके दोनों कविता-संग्रहों के शीर्षकों से भी प्रगट होती है। 1980 ई. में मलयज का दूसरा और अंतिम कविता संग्रह *अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ* प्रकाशित हुआ। इस दूसरे संग्रह की कविताओं में उनकी अभिव्यक्ति का अंदाज और पैना और सूक्ष्म हुआ है। नेमिचंद्र जैन ने उनके इस संग्रह के बारे में कहा है, "मलयज का काव्य जगत ख़ूँख़ार इरादोंवाले समाज के क्रूर या वेमुरव्वत परिवेश में लगातार ज़ख़्मी होती हुई मानवीय संवेदनाओं का, इससे पैदा होनेवाली छटपटाहट तथा दहशत का और उसके ख़िलाफ़ एक तिनके की चीख़ का बेचैन कर देनेवाला नाटकीय संसार है।"

इस संग्रह में एक कविता 'मुर्दनी है वहीं' द्रष्टव्य है—

उनमें जो एक मुर्दनी है वहीं
क्रूरताएँ जन्म लेती हैं
बारूद के ऊपर जंग लगी लोहे की टोपी
एक रूंधे गलियारे से छूटती है
और दीवार से चिपकी ख़ालें चू पड़ती हैं
बिना ढब।

इस दूसरे संग्रह तक आते-आते बाहर की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ और भी जटिल हो चुकी थीं। इसी के साथ लेखक संसार की असफलता और अंतर्विरोधों को लेकर भी मलयज की चिन्ताएँ गहरी हो गई थीं। लेखकीय परिवेश में भी कैरियरबाज़ी, अवसरवादिता और पाखंड कम न था। सिर्फ़ शब्दों की बहसें थीं, जन प्रतिरोध में हिस्सेदारी कहीं नहीं थी। वे अपने लेखकीय परिवेश को लेकर अक्सर संशयग्रस्त रहते थे। 'चीख़ से उतरकर' कविता की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

जब मैं घटती हुई चीख़ को शब्दों में
ज़बर्दस्ती ढकेलते हुए कहूँ, क्या आप मेरा साथ देंगे,
बहस में नहीं, लड़ने में
तो उसकी मेरी जेब पर न होकर
मेरे चेहरे पर हो?

मलयज के कवि का आत्मसंघर्ष बढ़ता जा रहा था। वे शब्द को किसी सक्रिय

प्रतिरोध के जीवन से जोड़ना चाहते थे। संशयों और दुविधाओं से घिरे रहकर भी इनसे बाहर आने की बेचैनी थी उनमें। वे देखते थे कि बाहर के दृश्य जगत में एक दहशत है, भयावह क्रूरताएँ हैं और मानवीय ऊष्मा का तत्त्व दिनोंदिन छीजता जा रहा है। यह एक जटिल संसार था। एक तरफ जीने का संघर्ष और दूसरी तरफ़ उससे बाहर निकल कर रचने की तटस्थता। संवेदनतंत्र एकजुट नहीं हो सकता था। उनमें विखराव था। मलयज की ये कतिवाएँ इन बिखरे हुए सूत्रों को एक जगह लाना चाहती हैं। मलयज चूँकि कवि के साथ एक सजग आलोचक भी थे, इसलिए उनकी इन कविताओं पर उनकी वैचारिकता का असर भी देखा जा सकता है। अनेक कविताओं में कविता की स्थिति और कवि एवं कविता के बदले हुए स्वभाव की चिन्ता भी दिखाई देती है। 'मोहताज कविता' की पंक्तियाँ हैं–

कुछ बदल रहा है
पर कविता आदमी का झूठ
कितनी जल्दी ज़ाहिर कर देती है कविता
के बाहर सच
संवेदना का नहीं
पाँव की मोच का मोहताज है।

मलयज एक औसत व्यक्ति और एक लेखक के दोहरे संघर्ष को अपने रोज़मर्रा के जीवन में वहुत ठोस ज़मीन पर खड़े होकर झेल रहे थे। उनके व्यक्ति और उनके लेखक के बीच कोई फाँक नहीं थी। उनका घर-परिवार, गली, पड़ोस, आजीविका, मित्र, संबंध और उनकी साहित्यिक चिन्ताएँ एक-दूसरे में घुल-मिलकर इन कविताओं में व्यक्त हुई है। मूर्त संसार और अमूर्तन भावदशाओं का विचित्र मेल इन कविताओं में है। एक वैचारिक तीक्ष्णता और संवेदनात्मक छटपटाहट को उनकी हर कविता में देखा जा सकता है।

मलयज की इन कविताओं के बारे में सुप्रसिद्ध कवि रघुवीर सहाय ने बड़ी सटीक टिप्पणी की थी, ''ये कविताएँ एक नई शैली और एक नई व्यक्ति-गरिमा दोनों की एक साथ खोज हैं।''

मलयज का सर्जनात्मक गद्य

कविता और आलोचना के अलावा मलयज सर्जनात्मक गद्य की विधा में भी सक्रिय थे। उनके गद्य की एक पुस्तक *हँसते हुए मेरा अकेलापन* वर्ष 1982 ई. में उनके निधन के कुछ दिनों बाद प्रकाशित हुई। इसमें उनकी 17 गद्य रचनाएँ और डायरी के कुछ अंश प्रकाशित हैं।

इन गद्य रचनाओं के बारे में कवि-आलोचक श्री विष्णु खरे ने कहा है, ''मलयज का गद्य एक संवेदनशील आदमी का सर्जनात्मक गद्य है--एक ऐसी संवेदना का, जिसका प्रत्येक रोम एक सनसनाता हुआ एंटेना था, जो सब कुछ देख, सुने, पढ़े और सोचे हुए को हमेशा सार्थक आवाज़ों और आकारों में बदलता था।'' विष्णु खरे का यह कहना भी ग़ौरतबल है, ''मलयज के यहाँ डायरी कब यात्रा हो जाएगी, यात्रा कब रिपोर्ताज़ में बदल जाएगी और जिसे वे और हम कहानी मानेंगे वह कब डायरी और रिपोर्ताज़ के बीच का कुछ लगेगी, यह कहना मुश्किल है।''

मलयज की इन गद्य रचनाओं में न तो परंपरागत ढंग की क़िस्सागोई है और न ही प्लॉट की नाटकीयता है। वे यथार्थ का एक ढीला-ढाला फ्रेमवर्क लेते हैं और उसका एक इम्प्रेशनिस्ट 'ख़ाका' तैयार करते हैं। प्रत्यक्ष ब्यौरे यहाँ हैं, पर दृश्य जगत का मानसिक प्रभाव ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। लेखक बाहर के संसार में टहलते हुए जैसे साथ-साथ अपनी मानसिक अंतर्यात्रा को भी पाठक के सामने प्रस्तुत करता जाता है। एक प्रभाववादी चित्रकार की तरह वह अपने आस-पास में सतत घटते परिवर्तन को पकड़ना चाहता है। वह जैसे रोशनी और रंगों के भागते क्षणों को क़ैद कर लेना चाहता है।

संग्रह की पहली रचना 'वेल्लूर की एक शाम' का रूप काफ़ी कुछ आत्मकथात्मक रिपोर्ताज़-जैसा है। लेखक जानलेवा बीमारी के इलाज के लिए सुदूर दक्षिण में वेल्लूर में लंबे समय के लिए अस्पताल में भर्ती है। साथ के एक मरीज़ भट्टाचार्य के साथ वह आपरेशन से पहले एक शाम वेल्लूर शहर में घूम रहा है। यह दो टूटे हुए व्यक्तियों के मनोजगत से गुज़रती एक उदास शाम है। शहर में जो कुछ भी दिखाई देता है,

वह अंतर्जगत के अवसाद में घुलकर अपना अर्थ प्रगट करता है। बाहर के दृश्य जगत के समानांतर एक मानसिक यात्रा चलती रहती है। इसी में बाहर का परिवेश अपना अर्थ खोलता है।

"भीतर सब कुछ शांत, ठहरा हुआ, रहस्यमय मौन में ठिठका। लान की घास चुप, पाम के पत्ते भी चुप।...हम आगे बढ़े...बाहरी बरांडे में शीशे के शो केस में ईसाई धर्म संबंधी पुस्तकें प्रदर्शन के लिए रखी हुई थीं–बिजली की नीली रोशनी में उनके कवर शिशु के रूंधे नेत्रों की नीली पुतली से लग रहे थे। एक उचटती दृष्टि हमने उधर फेंकी तो लगा कि तरह-तरह के शीर्षकों, आकृतियों, अक्षरों के ऊपर बाहर की वही गहरी उदास-उन्मन सी शाम गुंडरी मारकर बैठ गई है–सारे अर्थ, मन को विभिन्न मुद्राओं से बहनेवाले सारे खिलौने उसके पाश में टूट चुके हैं...ये तरह-तरह के शीर्षक आकृतियाँ केंचुल के कफ़न हैं, जिनसे उन मृत अर्थों का शव ढँक दिया गया है...।"

मलयज का गद्य एक गहरे अवसाद और ठहरी हुई बेचैनी का गद्य है। उसमें एक असाधारण संवेदनशीलता है और कुछ भी भड़कीला नहीं है। इसमें 'देखने' और 'सोचने' का विलयन होता है। बाहर प्रकृति के दृश्य हैं। वे कब मन की भीतरी पर्तों के साथ घुल जाते हैं, इसका पता नहीं चलता। यहाँ हर चीज़ चेतन मस्तिष्क से होती हुई अवचेतन तक जाती है। उसी में जीने के रहस्य तर्क की तरह उभरते हैं। सारे विवरण जैसे एक अप्रत्याशित की रचना करते हैं। विवरणों के केन्द्र में 'मैं' है। 'समय' इन सारी कथा रचनाओं का मूल तत्त्व है। जो वर्तमान है वह चिरंतन लगता है। जो हमेशा से घटता रहा है, वह अभी एकदम हल्का और ताज़ा लगता है। वह अपनी नाटकीयता में एक फ़ंतासी को रचता है और अप्रत्याशित बन जाता है। मलयज कई बार परस्पर विरोधी प्रकृति के अतियथार्थवादी बिम्बों की रचना करते हैं और ऐसा गद्य अपनी उड़ान में कविता के समस्त गुणों को आत्मसात कर लेता है–"दृश्य एक दूसरे को काटते चलते हैं...कटी हुई रेखाएँ नागिनों की तरह रात के सीने से चिपकी मुंडेरों से झूलने लगती हैं...गली में सड़क पर उतारी गई केंचुलों का अंबार लगता जाता है...तिरस्कृत अर्थ और जलती हुई मौन समाधियाँ...मृत लोगों ने अपने असली चेहरे कहीं छिपाकर रख दिए हैं। सब एक दूसरे की आँख बचाकर आते हैं और सड़क पर पड़े तिरस्कृत केंचुल पहन लेते हैं...।" (बिना चेहरोंवाली गली)

जो गुज़र रहा है, वह स्मृति से छनकर ही दृश्य बनता है। इस दृश्य जगत की एक रील-सी चलती रहती है। 'बिना चेहरों वाली गली' गद्य रचना में लेखक कहता है, "सारी स्थितियाँ और दृष्टियाँ तो जैसे मेरे भीतर से जन्मी थीं और मेरे चारों ओर छा गई थीं और मैं खंड-खंड होकर इनमें बिखर गया था।" 'काठ का गगन' शीर्षक रचना में लेखक लिखता है, "समय से मुझे भय लगता है। रीढ़ की

हड्डी में बर्फ–जैसी कोई चीज़ छू जाती है और मैं काँप उठता हूँ–मेरी बँधी हुई मुट्ठियाँ खुल जाती है। हाँ, यही है समय।''

यह बंद मुट्ठियों का खुलना भी विशेष प्रकृति का है। इसमें चित्रकला और कविता के तत्त्व हर समय अपनी भूमिका अदा करते हैं। यथार्थ के इकहरे रूप में लेखक एक बड़ी उलट-फेर करता है। जो प्रकट है वह अप्रकट बन जाता है। जो छिपा हुआ है वह प्रकाशित होता जाता है। अनदेखा देखा हुआ बनता है। कथा की कोई शुरुआत नहीं है, कोई अंत नहीं नहीं है। इस 'देखने' में एक जमा हुआ दुःख है, जो पिघलता जाता है। वही सारी कथा-विन्यास का सूत्रधार है। उदासी घटनाओं को एक चरित्र देती है।

मलयज अपनी इन रचनाओं में निम्नमध्य वर्ग की एक जटिल दुनिया को रचते हैं, उसकी अंदरूनी पर्तों को उघाड़ते हैं। इस निम्नमध्य वर्ग की दुनिया में स्थितियों और पात्रों का आदर्शीकरण नहीं है। जीवन ढांचे की पतली-सी झिल्ली के नीचे जैसा कुछ गुजर रहा है उसकी मार्मिक अमूर्तता को पकड़ना है। निम्नमध्य वर्ग के इस जीवन-संघर्ष में सब कुछ उघड़ा हुआ, अस्त-व्यस्त और क्षरित है। मनुष्यों की लालसाएँ और छोटी-छोटी चालाकियाँ हैं। क्रूरताएँ और विद्रूप है। एब्सर्ड स्थितियों से झाँकती उनकी कुंठाएँ हैं। यह यथार्थ इतना अनेकपर्तीय, कसैला और एब्सर्ड है कि कई बार सारी स्थितियाँ एक प्रहसन में बदल जाती हैं। यह जीवन जीने का एक अनंत व्यापार लगता है। मलयज इसी निम्नमध्यवर्गीय जीवन के ठहराव को भेदते हुए उसकी अंदरूनी गतिशीलता में उतरते हैं। जो रोज़मर्रा का अति परिचित है वह एकदम अनोखा, अप्रत्याशित और नाटकीय लगने लगता है। ज़ाहिर है इसके पीछे रचनाकार के भीतर का एक अद्वितीय क़िस्म का धैर्य, कल्पनाशीलता और भाषा की भंगिमा अपनी भूमिका अदा करती है। लेखक इस एब्सर्ड में रमता है। बिखेर हुए और विषम दिखते टुकड़े आपस में जुड़ते जाते हैं। स्थितियों का कहीं कोई सिरा नहीं है, सब आपस में गड्डमड्ड हैं। एक दूसरे में उलझे हुए हैं। यही है अनेक आयामी यथार्थ और एक समर्थ कलाकार इसे उसकी समूची जटिलता में पकड़ता है। 'बिना चेहरोंवाली गली' या 'नदी' इस दृष्टि से उनकी उत्कृष्ट गद्य-रचनाएँ है।

मलयज ने अपनी इन सभी गद्य रचनाओं में जिस परिवेश को रचा है, उसमें विभिन्न मनोभावों और स्थितियों की एक कंपोजिट रचना है। इसमें हमारे समय का ठहराव, मनुष्य को घेरनेवाली स्थितियों का उलझा हुआ ताना-बाना है। इसमें समय का ठहराव, मनुष्य को घेरनेवाली स्थितियों की निर्मम नग्नता, अनिश्चयता और इस सबको आपस में पिरोते हुए क्षण का इतिहास है। दृश्य चित्रों को रचते हुए लेखक की एक विलक्षण संवेदनात्मक सघनता और तीव्रता उभरकर आती है। एक कवि की ऐन्द्रिकता और एक प्रभाववादी चित्रकार की दृष्टि कैसे मूर्त और सपाट स्थितियों

को अमूर्तता तक लाकर एक नया आयाम जोड़ती हैं। उसके लिए इन गद्य-रचनाओं को पढ़ा जाना चाहिए। हमारे औसत जीवन के यथार्थ की अनेक स्तरीयता को इतने कलात्मक तरीके से पकड़ने के ऐसे प्रयास हिन्दी साहित्य में बहुत कम हुए हैं। समूचे हिन्दी साहित्य में ऐसी सघन गद्य रचनाएँ दुर्लभ हैं।

मलयज की डायरी

हिन्दी के प्रखर कवि-आलोचक मलयज को ज़्यादा उम्र नहीं मिली। 1982 ई. में कुल 47 वर्ष की आयु में तपेदिक से उनका निधन हो गया। उनके निधन के लगभग 18 वर्ष बाद 2000 ई. में तीन खंडों में उनकी डायरी प्रकाशित हुई। लगभग 1500 पृष्ठों की इस सामग्री का संपादन प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने किया है।

मलयज अत्यंत आत्म-सजग क़िस्म के बौद्धिक व्यक्ति थे। डायरी लिखना मलयज के लिए जीवन जीने के कर्म जैसा ही था। डायरी की शुरुआत 15 जनवरी 1951 ई. से होती है, जब उनकी आयु केवल 16 वर्ष थी। डायरी लिखने का यह सिलसिला 9 अप्रैल 1982 ई. तक चलता रहा, जब उन्होंने अंतिम सांस ली। अर्थात् 47 साल के जीवन में 32 साल तक मलयज ने डायरी लिखी हैं। डायरी लेखन मलयज के लिए क्या अर्थ रखता था, यह उन्हीं के शब्दों में जाना जा सकता है, ''डायरी लेखन मेरे लिए एक दहकता हुआ जंगल हो, एक तटस्थ घोंसला नहीं, जिसमें अपने पर घुसेड़ मैं जब चाहूँ, चुपके पड़ा रहूँ। डायरी मेरे कर्म की साक्षी हो, मेरे संघर्ष की प्रवक्ता हो यही मेरी सुरक्षा है--डायरी के कोरे पृष्ठों पर अंकित शब्दों में नहीं, उन पर जलती आग के बीच।'' डायरी के इन पृष्ठों पर रोज़-रोज़ घटते प्रसंगों के मन पर पड़ने वाले अक्स ही अंकित नहीं हैं, बल्कि अपने समकालीन साहित्यकार मित्रों से हुए संवाद, साहित्यिक गोष्ठियों की चर्चा, किसी चित्र-प्रदर्शनी, नाटक या फ़िल्म देखने के वाद अपनी प्रतिक्रिया, किसी पढ़ी हुई अंग्रेज़ी पुस्तक का संदर्भ आया है। इसी के साथ मलयज का वह दुःख और उद्वेग से बिन्धा जीवन है, जो किसी भी औसत निम्न मध्यवर्गीय भारतीय बौद्धिक का हो सकता है। इस डायरी में उनकी कविताएँ, कहानियाँ, रेखाचित्र और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ भी दर्ज़ हैं।

मलयज की डायरी को एक साधारण और निहायत औसत जीवन जीते इंसान मलयज और एक सजग बौद्धिक मलयज के आपसी संबंधों को जोड़ते हुए पढ़ना दिलचस्प हो सकता है। डायरी के ये पृष्ठ कवि-आलोचक मलयज के समय की उथल-पुथल और उनके निजी जीवन की तकलीफ़ों-बेचैनियों के साथ एक गहरा रिश्ता बनाते हैं। मलयज नई कविता और इलाहाबाद के परिमलीय संस्कारों में पले-बढ़े

थे, पर यह वह समय था जब अज्ञेय, भारती और साही का राग-ऐश्वर्य बिखर रहा था, नेहरू युग की बुलंद इमारत ध्वस्त हो रही थी, नई कविता अपनी अंतिम साँसें गिन रही थी। मलयज मोहभंग के दौर से निकलकर क्षितिज पर फैली अनिश्चितताओं के चिन्तक हैं। मलयज का विकास शीतयुद्ध की बहसों के बीच हुआ था, पर वे मुखर राजनीतिक प्रतिबद्धता और कला की स्वायत्तता के बीच की किसी उस ज़मीन पर खड़े थे, जहाँ विचारधाराओं के घमासान में जीवन और कला के रिश्तों की जटिलताओं की पुनः-पुनः जाँच की जाती है। सैद्धांतिक तर्क, नैतिक अंतर्दृष्टि और सौन्दर्यात्मक निर्णय इन तीनों तत्त्वों के आपसी जटिल संबंधों से मलयज का विचार जगत बनता है। 'इंटिग्रिटी' और सर्जनात्मक तनाव को मलयज रचना-कर्म का एक बुनियादी आधार मानते रहे।

मलयज की इस डायरी को—जो किसी हद तक उनके निजी जीवन का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ भी है, उनके समय की सबसे बड़ी बहस से जोड़कर देखना चाहिए। पिछले तीन-चार दशकों का यह वह समय रहा है, जब बहस का मुद्दा यह नहीं है कि रचनाकार राजनीतिक विचारधारा से प्रतिबद्धता रखे या न रखे, बल्कि मुद्दा यह है कि राजनीतिक विचारधारा की प्रतिबद्धता के बावजूद वर्गीय अंतर्विरोधों से भरे समाज में एक लेखक की अपनी वास्तविक नियति क्या है? मुक्तिबोध और मलयज दोनों ठहरकर उस अंतराल को संबोधित करते हैं, जो वर्ग भेद की जटिलताओं वाले समय में रचनाकार के भौतिक अस्तित्व और उसकी कांशस प्रतिज्ञाओं के बीच पसरा रहता है। मलयज के लिए रचना-कर्म एक जटिल मसला है। वह सिर्फ़ एक 'विशफुल थिंकिंग' नहीं है। मलयज की डायरी को पढ़ते हुए लगता है कि वे रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के निपट नंगेपन के पास अपने वैचारिक और दार्शनिक सरोकारों की समस्त अरूपताओं को खींच लाना चाहते हैं।

मलयज की डायरी में दर्ज़ समय 'पर्सनल' होकर भी 'पर्सनल' जैसा नहीं है। वे अपने सोच में बहुत अनौपचारिक हैं। यह डायरी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और 'कांशस' मन के बीच फैले उन अंतरालों को दर्ज़ करती है, जहाँ एक रचनाकार के वास्तविक अस्तित्व की जड़ें फैलती हैं, पर जो बहुधा उसके 'ब्लाइंड स्पॉट' बने रह जाते हैं।

इस डायरी में एक औसत भारतीय लेखक के परिवेश को आप उसकी समस्त जटिलताओं में देख सकते हैं। एक भरा-पूरा परिवार, बूढ़े माँ-बाप, निरंतर बनी रहनेवाली आर्थिक दुश्चिन्ताएँ, हारी बीमारी, अभाव, असुरक्षा, अरूप क़िस्म के तनाव, मानसिक कलह, उद्वेग, रागात्मक संबंधों की छीजन और उससे जन्मी अंदरूनी व्यथाएँ, औसत दर्जे की नौकरी, काम-काजी संबंधों में व्याप्त टुच्चापन और घटिया राजनीति, परिवार के भीतर अलग-अलग निजी महत्त्वाकांक्षाएँ और पृथक् स्वप्न संसार, एक स्थायी क़िस्म की हताशा और इस सबको आपस में जोड़ता हुआ एक रुका हुआ समय। मलयज की यह डायरी निम्नमध्यम वर्ग के पारिवारिक नरक को उसकी समस्त

जटिलताओं में उकेरती है। उनके निजी हालात से जन्मी मनोदशाओं के पचासों शेड्स इस डायरी में मौजूद हैं। मुक्तिबोध की तरह मलयज भी दो पाटन के बीच फँसे हुए 'एक नीच ट्रैजिडि' को उसकी सारी विविधताओं में देखने और भोगनेवाले लेखक थे।

महत्त्वपूर्ण बात है एक तरफ़ निम्नमध्यवर्गीय जीवन की अभावजन्य परिस्थितियों का मकड़ज़ाल और दूसरी तरफ़ वैचारिक सरोकारों और सृजनात्मकता की उड़ान। डायरी को पढ़ते हुए लगता है कि मलयज भौतिक स्तर पर कहीं भी इस मकड़जाल को काट नहीं पाते, पर मानसिक स्तर पर उनके पास एक ऐसी ज़मीन है; जहाँ वे सारे घिराव के बावजूद अपनी असाधारण बौद्धिक सजगता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। मलयज अपने जीवन में 'इन्वॉल्व' भी हैं और उसी समय उनमें एक ग़ज़ब की तटस्थता और निर्मम आत्मावलोकन भी है। वे बख़ूबी निजी संदर्भों का विश्लेषण करते हैं और बहुत सहज तरीक़े से एक युग सत्य को उसके बीचों-बीच अवस्थित कर देते हैं। ज़रूरी नहीं है कि अपने परिवेश में 'इन्वॉल्व' रहने और उसका तटस्थ विश्लेषण करने का यह खेल हर बार कोई आत्मस्फूर्ति ही रचता हो। यह एक ख़तरनाक खेल है और इसमें पराजय, हताशा, अपराध-बोध से लेकर आत्म-भर्त्सना तक की सारी स्थितियाँ मौजूद रह सकती हैं। 17 मार्च 1978 ई. की डायरी में मलयज लिखते हैं—

"तुम हर हार के पहले ही एक फ़िलास-फियाना रुख़ अपनाने में सिद्धहस्त हो। तुम्हें हमेशा हार के क्षणों में एक भव्य क़िस्म की उदासी घेर लेती है। जीवन के छोटे, मूर्त और ठोस स्तर पर तुम कुछ भी न कर सके। पर हाँ उच्चतर मूल्यों के विराट आकाश के संदर्भ में सोचना और सोचकर अपने को बहलाना तुम्हें ख़ूब आता है। तुम लेखक हो यह सवाल उस वक़्त तुम्हारे बड़े काम का सिद्ध होता है। तुम अपनी हार को लेखकीय विशिष्ट हैसियत के झीने तारों से ढँकना चाहते हो। तुम दुःख को सिर्फ़ सहना, झेलना नहीं, चखना, उसका स्वाद लेना, उसे चुभलाना चाहते हो। तुम अपनी हार की विपन्नता को एक साहित्यिक मूल्य के भड़कीले वर्क के नीचे छिपा देना चाहते हो।"

एक संवेदनशील मन में आत्म-धिक्कार का यह भाव एक पेचीदा मनोवैज्ञानिक स्थिति की ओर संकेत करता है और इसकी जड़ें निम्नमध्यवर्गीय बौद्धिक के 'एलियनेशन' में है। मुक्तिबोध की कविता का तो यह केन्द्रीय तनाव है। मलयज मुक्तिबोध की तरह बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्गान्तरण की समस्या की तरफ़ नहीं जाते पर वे निश्चित रूप से एक विभक्त चेतना और अपराध-बोध से भरे बौद्धिक हैं। हमारे समय में बौद्धिक के इस विभक्त व्यक्तित्व ने साहित्य की विभिन्न विधाओं में किस तरह 'स्वगत' और 'आत्मालाप' की स्थितियों को जन्म दिया है, यह अलग से एक विस्तृत अध्ययन का विषय है। अपने आपसे एक निरंतर युद्ध, युयुत्सा और

परवशता का मिला-जुला एहसास, नाकाम गुस्से और क्षोभ के विभिन्न शेड्स, मानसिक विभाजन, निजी परिस्थितियों में फँसा एक खंडित जीवन और उसका अपराध-बोध–ये तमाम बातें किसी संवेदनशील रचनाकार का अनिवार्य संदर्भ बन जाती हैं। मलयज अपनी डायरी में लिखते हैं–

"यंत्रणा किसमें है? इस अनिश्चय में या इस चीर-फाड़ में? इस अनिवार्य चीर-फाड़ से मैं बच नहीं सकता। इस अनिवार्यता ने ही यंत्रणा को तीखा बनाया है और यंत्रणा के इस तीखेपन ने बार-बार विवश किया है कि अपनी चीर-फाड़ करके उस ज़हर को टटोलूँ, उसे छुऊँ और क्या उसे बाहर निकाल भी फेकूँ?"

यह व्यक्ति-केन्द्रित और समाज निरपेक्ष अस्तित्ववादी पश्चिमी ढर्रे का द्वंद्व नहीं है। इस द्वंद्व की जड़ें ठोस भारतीय परिस्थितियों में मौजूद हैं। मलयज की डायरी उन भौतिक परिस्थितियों में मौजूद रोज़मर्रा के नरक के छोटे-छोटे हवाले देती है। इस डायरी को पढ़ते हुए इस बात पर सोचने का एक कारण बनता है कि आधुनिक विकास की जटिल स्थितियों ने हमारे समाज में चेतना के रूपों को किस हद तक विभाजित कर दिया है। एक ही व्यक्ति के भीतर अनेक संसार बन रहे हैं, क्योंकि वह एक साथ अनेक 'समयों' को जी रहा है। कई बार ये अंतराल इतने बड़े हैं कि वे अनिवार्यतः एक मानसिक उद्वेलन और अपराध-बोध का स्थायी शिकंजा तैयार कर देते हैं। बीसवीं सदी के अंत में आधुनिकता को लेकर हो रही बहसों में ज्युर्गेन हेबरमास ने इस महत्त्वपूर्ण सवाल को उठाया है कि तर्क की समग्रता का एजेंडा अभी अधूरा है। जब तक इतिहास और परंपरा, समाज और सत्ता केन्द्र, व्यवहार और चिन्तन, शरीर और इच्छाओं के बीच अंतराल मौजूद हैं, तब तक वे अवचेतन के एक 'नो मैंस लैंड' को रचते रहेंगे। आत्माभिव्यक्ति की दुर्निवार इच्छा और दमनकारी परिवेश के घमासान में बनते चेतना के अनेकानेक धरातलों की इस स्थिति को भारतीय परिवेश में विश्लेषित करने की आवश्यकता है।

मलयज इस बात को बख़ूबी जानते थे कि सृजनात्मक स्तर पर कोई भी अनुभव हवा में निर्मित नहीं होता। आत्म-सत्य से एकात्म होना ज़रूरी है। 'आत्म' की यह खोज अहम्-केन्द्रित नहीं, बल्कि अहम् के विलयन द्वारा ही संभव है। पर 'आत्म' की यह खोज हमारे समय तक आते-आते क्या इतनी आसान रह गई है? 13 फ़रवरी 1978 ई. की डायरी में वे लिखते हैं–

"आज का समय रॉकेट की रफ़्तार से चल रहा है और उसमें एक विस्फोट का-सा गर्जन है। इस रफ़्तार और गर्ज़न के सामने वह 'अपना आपा' कहाँ टिका रह सकता है–किस पक्की न धसकनेवाली ज़मीन पर?–जो आत्मानुभूत या आत्म अन्वेषित सत्य के साथ एकात्म हो सके–Communion स्थापित कर सके?"

मलयज बदलते हुए समय की अंदरूनी धड़कनों को पढ़ रहे थे। वे जानते थे कि रचनाकार का परंपरागत एकांत, ऐश्वर्य और वैभव ख़त्म हो चुके हैं। सारी

आपा-धापी और अराजकता के बीच जन्मनेवाले लेखन के लिए एक नई सौन्दर्य-दृष्टि की आवश्यकता है। अपनी निजी परेशानियों को एक वृहत संदर्भ देते हुए वे लिखते हैं–

"घर का घरेलूपन और उससे जुड़े हुए कर्तव्य और सीमाएँ मेरे और मेरी एकाग्रता के बीच छा जाते हैं। उस घरेलूपन में पूरी तरह डूब जाने के पहले मैं सोचता हूँ। क्या मेरे रचनात्मक एकांत में यह घरेलूपन एक कोने में फ़िट नहीं हो सकता? मैं अपनी रचानात्मक स्फूर्ति में क्यों सिर्फ़ एक सौन्दर्य की कुनकुनाहट सुनना चाहता हूँ, घरेलूपन में बसे हुए मध्यवर्गीय जीवन के दहाड़ते हुए शोर को क्यों नहीं? अपने रचानात्मक क्षणों में मैं क्यों? क्यों अपने मध्यमवर्गीय अस्तित्व की सतत चुभती हुई कीलों को भूल जाना चाहता हूँ, जिन सलाखों से मैं बिंधा हुआ हूँ, उन्हें क्यों दरगुज़र कर देना चाहता हूँ? क्या मैं रचना को किसी ऊपर के वर्ग से जुड़ने का साधन समझता हूँ? क्या रचना का सुख मुझे अपने से ऊपर उठने का सुख देता है? इस सुख में कितनी ठोस मिट्टी है और कितना बालू? यह सुख बड़ा है या वह पल-पल की घिस-घिस कट-पिट और उसमें पूरी तरह न टूट पाने का संतोष?"

मलयज भारतीय मूल्यदृष्टि पर बुर्जुआ संस्कृति की जकड़ को लेकर तो क्षुब्ध थे ही, वो मार्क्सवादी चिन्तनदृष्टि का भी एक भारतीय परिप्रेक्ष्य चाहते थे। जनवरी 1978 ई. की डायरी में लिखते हैं–"भारतीय मूल्य-दृष्टि और चिन्तन के बुनियादी ढाँचे पर बुर्जुआ संस्कृति की क़लई इतनी गाढ़ी और चटक लग चुकी है कि हिन्दुस्तानी चिन्तन और दृष्टि का मूल आकार खो चुका है।" मार्क्सवादी भी मूलतः एक पाश्चात्य चिन्तन-दृष्टि है। नई दृष्टि है, इसलिए उसमें ऊर्जा है, प्रेरणा है। क्या इसे अपनी हिन्दुस्तानी चेतना पर लदी बुर्जुआ संस्कृति (जिसे आधुनिक संस्कृति भी कह सकते हैं) की जकड़ को काटने के औज़ार के रूप में इस्तेमाल नहीं किया जा सकता? पर मार्क्सवाद का भारतीयकरण आवश्यक है, तभी वह यहाँ जड़ प्राप्त करेगा।

मलयज ने सवाल उठाया था कि राजनीति का संकट कविता का भी संकट है। यह वह दौर था, जब हिन्दी कविता मोहभंग के दौर में एक गहरे सिनिसिज़्म का शिकार हो गई थी। वे समाज में मौजूद द्वंद्वात्मक शक्तियों को लक्षित करने के पक्षधर थे। केवल स्वार्थ और सत्ता की राजनीति का सतही चित्रण रचनाकार को एक ऐसी अनास्था की ओर ले जा सकता है, जो अपनी अंतिम परिणति में रचना-विरोधी सिद्ध हो जाए। नवंबर, 1978 ई. की डायरी में मलयज लिखते हैं–

"अधिकांशतः कविगण राजनीति के बिगाड़ने-तोड़नेवाले रूप से ही वाक़िफ़ हो पाते हैं, क्योंकि राजनीति से उनका परिचय अधूरा होता है, वे उसका पूरा साक्षात्कार नहीं कर सकते। वे आधुनिक युग में संकट-बोध को उत्पन्न करनेवाली और सत्ताओं की तरह राजनीति को भी केवल प्रभाव के स्तर पर ही झेलते हैं; और इस तरह राजनीति उन्हें अपने सामने ख़ुद अजनवी बनाती है, उन्हें ख़ुद से 'एलियनेट'

करती है।''

जिस समय कविता में सपाटबयानी की बड़ी प्रशंसाएँ हो रही थीं, मलयज ने इस ख़तरे को भाँप लिया था कि कविता में सपाटबयानी भाषा को इकहरेपन की ओर ले जा रही है। मलयज का मानना था कि कविता की भाषा में इकहरापन इसलिए है, क्योंकि कवि ने अपने समय को पूरे भाव और बृहत ऊर्जा के साथ नहीं जिया है। वे कहते थे कि सार्थक कवि कर्म केवल परिस्थितियों का फ़ोटोग्राफ़िक लेखांकन भर नहीं है, बल्कि उस 'होने' की दिशा को खोजना और पाना है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मलयज एक ओर जहाँ कविता में राजनीति के केवल बाहरी रूपों के बख़ान के विरुद्ध थे, वहीं वे उस कविता को भी पसंद नहीं करते थे; जो केवल जातीय स्मृतियों और ऐन्द्रिक अनुभवों की बात करती है, पर अपने समय को लेकर कहीं तनावग्रस्त नहीं होती। इस संदर्भ में उन्होंने त्रिलोचन जैसे कवि के बारे में भी अपनी शंकाएँ खुलकर प्रकट की थीं। त्रिलोचन की कविता के बारे में उन्होंने अपनी डायरी में लिखा है—

''त्रिलोचन की कविता में जन-संघर्ष के करेंट के ब्यौरे नही उभरते। वे जन-संघर्ष और जीवन-अनुभव के सक्रिय अस्तित्व से अवगत नहीं हैं, उनकी चिनगारियाँ कहीं उन्हें झुलसाती ज़रूर होंगी, पर वे उसे अपनी साहित्यधर्मिता के आगे उभरने नहीं देते। त्रिलोचन में जो तनाव नहीं है वह इस कारण कि वे आज के बीहड़ जीवन बोध और जन-संघर्ष की प्रतीतियों को भड़ककर उभरने नहीं देते।''

'संवाद और एकालाप' में उनकी डायरी का एक अंश है, जो अतिवादी स्थितियों और उनमें छिपे छद्म पर बेबाक टिप्पणी करता है—

''ज़्यादातर लोग क्रांति को शांति को/प्रेम को या युद्ध को/पूर्व को या पश्चिम को/व्यक्तिवाद को या जनवाद को एकांतभाव से दे दिए गए हैं। उनके भीतर कोई अंतर्विरोध नहीं है। कोई दरार उनमें नहीं, न उनकी आत्मतुष्टि में, न उनके घनघोर जुझारूपन में कोई फाँक, न उनके बेबाक सपाटपन में कोई सिकुड़न, सबकुछ चुस्त-दुरुस्त, सब कुछ मसलहन, रणनीति लाघव। वे ठोस पैंतरा भूमि पर खड़े हैं जहाँ से हाथ बढ़ाकर वे जब चाहे आकाश को छू सकते हैं...अपने सांस्कृतिक आभिजात्य में तना आकाश...और फिर भी मिट्टी की अकिंचनता का गर्व लिए फिर सकते हैं। वे ईश्वर, कविता और मृत्यु तक को अपनी सफलता के सौ फ़ीसदी भौतिक तमगों में बदल सकते हैं। वे उत्पीड़न, आक्रोश और करुणा को सुखद सौन्दर्यात्मक फुरफुरी में अंकित कर दे सकते हैं।''

जिस समय कविता में स्वचेतना की बहुत बातें हो रही थी। तब मलयज इस तरफ़ या उस तरफ़ की पॉलिमिक्स में उलझने के बजाय ज़्यादा मूल संदर्भों की तरफ़ जाते हैं—

''अजीब रौ है यह स्वचेतना भी, जिसकी तलवार अपने सीने पर रखकर 'मैं'

जितना 'अपना' होता जाता है, उतना ही 'दूसरा' होता जाता है। फिर आता है वह पारदर्शी क्षण, जहाँ 'मैं' न पूरी तरह 'अपना' रह जाता है, न पूरी तरह दूसरा। उस क्षण के जल में अस्तित्व के दोनों किनारों की प्रतीतियाँ और सत्य, यातनाएँ और सुख, गति और विराम साथ-साथ झिलमिलाते हैं। इस दबाव क्षेत्र में सभी द्वैत अतीत और वर्तमान, व्यष्टि और समष्टि, संवेदना और संस्कार, व्यक्तित्व और अनस्तित्व, शाश्वत और सामयिक—सब एक साथ चेतना के एक तीखे निशान पर उछाल मारते हैं, जिसमें ज्ञान के भूगोल के साथ-साथ भावना का इतिहास भी चमक उठता है। इस चमक के आकाश में आकाश और धरती जुड़ते नहीं, बीच का आदमी बिखराव और कसाव के ग्राफ़ पर एक शून्य अंक-सा स्थिर खड़ा रहता है—सिर्फ़ अंतर्मन और बाह्यमन की सीमाएँ कट-कटकर अलग हो जाती हैं।''

तीस वर्षों में फैली मलयज की इन डायरियों को पढ़ना एक उत्तेजक अनुभव है। मलयज की सृजनात्मक समीक्षा की आधार-भूमि, उनका भाव-संसार, उनके वैचारिक द्वंद्व और मूल्य-दृष्टि हमारे सम्मुख बहुत निजी संदर्भों से गुज़रते हुए स्पष्ट होती जाती है। मलयज ने सृजनात्मकता के बारे में समय-समय पर जो संकेत दिए हैं या कूट वाक्य लिखे हैं, वे विस्तृत बहस का आधार बन सकते हैं। मलयज की भाषा का सबसे बड़ा गुण उसमें बसी सघनता और एक ख़ास तरह की आंतरिकता है। यह आंतरिकता उन्हें विश्वसनीय बनाती है। एक अंतःसंघर्ष सर्वत्र उनके लेखन में दिखाई देता है। कृति से गुज़रते हुए एक आलोचक किस हद तक अपने पूर्वाग्रहों को परे रखे, मलयज इसका साक्ष्य देते हैं। उनकी अनेक टिप्पणियों में कृतिकार के अनुभव और पाठक के अनुभव की टकराहट दिखाई देती है। ऐसा आभास होता है, मानो मलयज कृतिकार के अनुभव से गहरे तदाकार होते हुए भी एक पाठक के रूप में अपने अनुभव को दोबारा रच रहे हैं। संलग्नता और तटस्थता का एक आश्चर्यजनक मेल मलयज के व्यक्तित्व में है—यह अपने निजी जीवन की स्थितियों पर की गई टिप्पणियों से लेकर 'कृतियों' पर व्यक्त किए गए विचारों तक हर जगह डायरी में दिखाई देता है।

पिछले पच्चीस-तीस वर्षों में कविता के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण बहसें उठी हैं। राजनीतिक चेतना और रचनाकार के संबंधों के रूप लगातार बदलते गए हैं। भारतीय समाज में वर्गीय चेतना के बद्ध रूप नए से नए कला-रूप को कैसे बहुत जल्दी 'क्लीशे' में बदल डालते हैं और सतत आत्म-चेतना को बनाए रखना क्यों ज़रूरी है इसे भी मलयज को पढ़ते हुए जाना जा सकता है। मलयज कला में स्मृति की भूमिका और उसके अंतर्विरोधों से, जातीय संसार की स्मृतियों में छिपे हुए सपाटपन और ग़ैर-राजनीतिक सुविधापरस्त कला दृष्टि के ख़तरों से भी हमें आगाह करते हैं। वे कला में अनुभव के किसी भी सरलीकरण और आसान निष्कर्षों के विरुद्ध हैं। वे जब-तब इस ओर संकेत करते हैं कि अनुभव का यह सरलीकरण विचारों की

रूढ़ि से भी बन सकता है और एक ग़ैर-राजनीतिक, ग़ैर-वर्गीय, ग़ैर-ऐतिहासिक कला-दृष्टि की आसानी से भी। मूल बात जीवनानुभूति को कलात्मक अनुभूति में ढालने की प्रक्रिया और इन दोनों के बीच फैले सार्थक और तनावपूर्ण रिश्तों को खोजने और रेखांकित करने की है। मलयज ने जब भी इन मुद्दों पर सोचा पूरी ईमानदारी से सोचा। उदाहरण के लिए शमशेर की कविताओं का पूरा सम्मान करते हुए भी वे शमशेर की रचनाशीलता में आए ठहराव को पूरी तटस्थता से रेखांकित करते हैं। 6 जून 1976 ई. की डायरी में वे लिखते हैं—

"इधर जैसी कविताएँ शमशेर जी लिख रहे हैं, वे रचानात्मक इरादे से किसी नई ऊर्जा से प्रायः रहित, अनुत्तेजक प्रेरणाहीन हैं। एक प्रकार की रूक्ष गद्यात्मकता-सी उनमें भरती जा रही है। यह गद्यात्मकता भी किसी नई विचारात्मकता का वजन लिए हुए नहीं है, एक सूखेपन, एक प्रेरणाहीन पठार का संकेत है। शायद शमशेर जी के पास कविता लिखने के लिए कोई नया रचनात्मक अनुभव नहीं रहा। कोई नई बाध्यता, विवशता और ज़ुबान।"

यह रचनात्मक अवरोध आख़िर पैदा क्यों होता है? मलयज लिखते हैं—"रचनावरोध क्या तब महसूस होता है, जब आदमी अपने जीने के नैतिक कर्म को पूरी ईमानदारी से नहीं निभा पाता—जब कर्म द्वारा अपने को उपलब्ध करने के एक लंबे सिलसिले में एक सुस्ती का आलम घेर लेता है—जीना रास्ते के पत्थर पर पाँवों को ठोकर का नाम है।"

हमारे अपने समय में जीने और रचने का संकट पहले के किसी भी दौर से ज़्यादा गहराया है, क्योंकि हमारी नैतिक विकलताएँ कम हुई हैं और एक यथास्थितिवाद नए-नए तरीक़ों से हमारे 'सिस्टम' में घुस रहा है। हमने अपनी सफलता के मापदंड समाज में सफलता के मापदंडों से जोड़ लिए हैं। साहित्य में भी एक ज़बर्दस्त कैरियरिज़्म हावी हो गया है। एक समय के बड़े-बड़े दिग्गजों और प्रगतिशीलों के पतन को हम प्रतिदिन खुलेआम देख रहे हैं। ऐसे समय में मलयज की इन डायरियों को पढ़ना साहित्य और जीवन-कर्म की मूलभूत आस्था की ओर लौटना है। भूमंडलीय संस्कृति के इस दौर में आज जब साहित्य के संसार में भी 'बाज़ारवाद' पैठ गया है, तब मलयज के अंतिम दिनों की डायरी का एक पृष्ठ सामने है, जिसमें मलयज मुक्तिबोध के बारे में बात करते हुए प्रकारांतर से जैसे अपने बारे में ही बात कर रहे हैं। 19 फ़रवरी 1981 ई. की डायरी में वे लिखते हैं—

"मुक्तिबोध की कविता में कहीं ड्राइंगरूम संस्कृति है तो कहीं उठाईगीर संस्कृति। इस संस्कृति की सफलता मुक्तिबोध को नहीं चाहिए। वे तो उल्टे अपने भविष्य को अपने कर्म के भविष्य को—समाज का तलघट बनने को प्रेरित करते हैं, क्योंकि यह तलघट ही तो है वह मानव-आत्म की विशाल सतह, उस आत्मा का अपरिचित आयाम। वहाँ उठाईगीर संस्कृति की तरह परस्पर गलाकाट प्रतिस्पर्धा नहीं,

बल्कि साथ-साथ जीना और मरना है। यह सतह की संस्कृति है, औसत की बिरादरी। इस संस्कृति में रहना अपने मूल में रहना है, उससे बाहर जाने की चेष्टा छिन्नमूल हो जाता है। इस बिरादरी के बाहर जाना बिरादरी की आत्मा में घाव करना है, उससे जुड़े हुए अपने रग-रेशे काटना है। अकेला हो जाना है। वैयक्तिक हो जाना है, विशिष्ट ख़ासमख़ास अभिजात्य हो जाना है। यह ऐसा वर्गसमय है, जिसमें प्रत्येक सफलता के पीछे एक हत्या छिपी हुई है, हर तड़क-भड़क के पीछे आत्मा का विराट सूनापन। आज हम एक ऐसे वर्गसमय में रह रहे हैं, जिसमें अकेले बढ़ना एक अमानवीय कर्म है।''

मलयज का निजी जीवन दुःखों और तकलीफ़ों से भरा एक तनावग्रस्त जीवन था। पर इस तनाव के बीच मानवीय अर्थवता और जिजीविषा को जो लपट उनमें सुलगती रही, वह बहुत क़ीमती, स्थायी और प्रेरणास्पद है। 3 मार्च 1981 ई. की डायरी में वे जो लिखते हैं, वह हमारे समय के मनुष्य के मन का गहन अंतर्ज्ञान है–

''अपने को काटता-पीटता हुआ यह आदमी दुनिया के आगे एकजुट और साबुत बने रहने की जिजीविषा में हरदम तना हुआ–किसी लक्ष्य पार छूटने को कसा हुआ रहता है।''

इस तनाव के दूसरे छोर पर है उदासी, सतह के आदमी का बुनियादी रंग सँवलाया हुआ नीला उदास रंग है। नीला साँवला रंग आत्मा के अंतर्मन का रंग है। आत्मा के लैण्डस्केप का रंग। इस रंग में आत्मा अपनी उदासी को महसूस करती है। पर जहाँ उसे इस उदासी का सजग बोध हासिल होता है, वह है भूरा-भूरा ख़ाकी रंग, नीले रंग में यदि इस देश की आत्मा का इतिहास है तो भूरे रंग में इस देश की आत्मा का बीहड़ भूगोल। भूरा रंग कठिन चट्टानी कर्म का रंग है। पर इस रंग में भी उदासी है–आत्मा के बहिगर्मन की उदासी। रौंदी डुई धूल की उदासी। अकिंचनता की उदासी।

जब इस रंग में उबाल आता है तब वह लाल होता है। इस लाल रंग से अंतर्मन और बहिर्मन दोनों के लैण्डस्केप बदल जाते हैं। नीला जैसे ठहरी हुई रात है और लाल रंग जैसे दिन में उगता हुआ चंचल अरुण कमल, लाल रंग दरअसल आदमी के गुह्याअंधकारी, यातना पीड़ाओं से कैथालिस का रंग है, मुक्ति का रंग। इन डायरियों को पढ़ने के बाद मलयज के व्यक्तित्व में हमें एक पूर्ण मनुष्य दिखाई पड़ता है। संघर्ष, ईमानदारी, क्लेश, बेचैनी, राग, स्वप्न, बुद्धि, भावना में घिरा एक ऐसा व्यक्ति, जो जीवन के एक-एक क्षण को अपनी समस्त ऊर्जा के साथ निचोड़ लेना चाहता है।

चयन

मिथ में बदलता आदमी

आज़मगढ़ में टौंस नदी का किनारा। उस पर के खेतों में गेहूँ पक गया था। सफ़ेदीपन लिये हुए पीले डंठल और लगभग कत्थई पड़ चली बालियाँ झुकी पड़ रही थीं। हवा थी। नदी के दोनों किनारों में ख़ूब घनी बनघासें उगी थीं और पानी के नीचे मोटी काई की हरी-नीली चादर के ऊपर छोटी-छोटी मछलियों की लहर इधर से उधर आ-जा रही थी। घाट की सीढ़ियों के पत्थर जगह-जगह से खिसक गए थे:..।

घाट से लगे हुए कबीरपंथियों के बहुत पुराने मठ और उपासनाघर। निर्जन। मठ को चारों ओर से घेरे हुए ऊँचे सघन पेड़ थे, जो उस पूरे इलाक़े को एक छोटे-मोटे वन की हैसियत प्रदान करते थे। चिड़ियों की आवाज़ें आ रही थीं। उन आवाज़ों के अंतराल को हवा कभी सूखे पत्ते खड़काकर तो कभी नदी में मछलियों की एक दुबली-पतली छप् उठाकर भर रही थी। आसमान में सूरज डूबने के पहले ही रंगारंग हलचल...।

इस सबको छोड़कर आगे बढ़ो तो एक चटियल मैदान था, अपनी रौंदी हुई धूल में चारों खाने चित्त। उसके बाद से ही शहर का पिछड़ापन शुरू होता था, अपने मक्खी-मच्छर, धुएँ, शोर, स्कूल, कचहरी, हलवाई की दुकानों, अख़बार के स्टालों, रंडी और शराब के अड्डों के साथ। इस पिछड़ेपन को शहर के तमाम सारे मुहल्लों में से एक नाम दे दिया गया था। प्रकृति इस पिछड़ेपन के पहले तक थी और जहाँ जाकर हम उस पिछड़ेपन में शामिल हो गए थे, वहाँ वह हमसे छूट गई थी। और जहाँ ज़्यादातर समय पिछड़ेपन के बीच ही रहना हो वहाँ प्रकृति उत्तेजित-प्रेरित नहीं करती।

धूल में लस्त-पस्त उस मैदान में खड़े-खड़े—जिसके पीछे थी प्रकृति और आगे था पिछड़ापन—मुझे रामचंद्र शुक्ल की याद आई। पिछले कई महीनों से मैं शुक्लजी की *रस-मीमांसा* पढ़ता रहा था। उससे उलझता, जूझता, उस पर मुग्ध होता, खीजता, झुँझलाता, चकित होता रहा था। इस समय जबकि मैं उस मैदान में खड़ा था, मुझे याद आई *रस-मीमांसा* की वे पक्तियाँ, जिनमें आलोचक रामचंद्र शुक्ल की बटी-छटी घनी मूँछ, पतली कमानी का चश्मा, गोल टोपी और मोटी गर्दन से बननेवाली रोबदार

मुखाकृति के बावजूद एक सरस, निश्छल और भावुक हृदय के भाव-सत्य हैं। वे भाव-सत्य शुक्ल जी के, प्रकृति ने मार्मिक तथ्यों को बीनकर उन पर अपनी कल्पना का रंग चढ़ाकर रचे हैं। और इस रचने के कर्म से मानों उनकी कटी-छँटी सघन मूँछें मुस्करा उठी हों, पतली कमानी के चश्मे के नीचे सोच में डूबी आँखें अपने चारों ओर का सौन्दर्य-प्रसार देख एकाएक चमकने लगी हों, मोटी गर्दन प्रकृति के रूप-छंद की ताल पर हौले-हौले हिलने लगी हो। मुझे याद आई वे पंक्तियाँ, जिनमें समीक्षा के स्वेद-रक्त-धूल से सने मैदान का अर्थ प्रकृति के स्पर्श से पंखयुत हो उठा है, नए-नए अंकुर फेंकने लगा है। यह पंखयुत अर्थ किसी कविता की परिभाषा के लिए नहीं रचा गया, किसी गूढ़ साहित्य-तत्त्व के शास्त्रीय विवेचन के लिए नहीं अँकुराया गया। यह पंखयुत अर्थ दरअसल उस सामान्य मनुष्य के लिए है, जो अपने समय के पिछड़ेपन में घिरा है। शुक्लजी बार-बार उस मनष्य को गुहारते हैं कि सदा अपने भीतर ही न धँसे रहो, बाहर और देखो, देखो और महसूस करो।

मैंने कहा—आचार्यप्रवर, मैं तो पहले ही बाहर हूँ। मैं आपका बतलाया हुआ वह भावयोग कैसे साधूँ कि मेरे सामने का यह पिछड़ापन अपने तमाम मक्खी-मच्छर, धुँए, शोर, स्कूल-कचहरी, हलवाई की दुकानों, अख़बार के स्टालों, रंडी और शराब के अड्डों के साथ सरासर तथ्य न रहकर सत्य में बदल जाय। पिछड़ेपन का यह टुकड़ा देश के पिछड़ेपन के और-और टुकड़ों में मिल जाए, इस पिछड़ेपन में घिर हुए सब मनुष्य एक हो जाएँ; एक और अपने से बाहर—किसके ख़िलाफ़? किसके प्रति समर्पित?

मैं हिन्दी का एक छोटा-सा कवि सोचने लगा कि क्या मुझे इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा शुक्लजी से करनी चाहिए? शुक्लजी के शब्द याद आए : "सत्य सबकी सामान्य संपत्ति होता है; झूठ हर एक का अलग-अलग होता है।" पर वह सत्य कहाँ है? क्या उस प्रकृति में, जिसकी तरफ़ मेरी पीठ है और जिससे गुज़रकर मैं इस चटियल मैदान तक पहुँचा हूँ? या उस पिछड़ेपन की धमनी में रूंधे, सड़ते, कुलबुलाते मानव-सँभावनाओं के रूपहीन, नामहीन समूह में जो इस मैदान के आगे है और जहाँ जाकर मुझे—आसमान में घिरते जाते अँधेरे के साथ-मिल जाना है?

शुक्लजी ने कई गर्मियाँ आज़मगढ़ में बिताई थीं। उनके बड़े लड़के आज़मगढ़ में वकील थे और शुक्लजी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की अपनी प्राध्यापकी के दौरान ग्रीष्मावकाश में वहाँ जाया करते थे। घुमक्कड़ स्वभाव के शुक्लजी ने टौंस का वह किनारा देखा होगा, वह कबीरपंथी मठ, वह घाट, वे लहरें, बनघासें, वृक्षवितान, सब...शहर का रूप तब शायद कुछ और रहा होगा, मुहल्लों के नाम भी शायद दूसरे रहे हों। पर यह पिछड़ापन? बेशक इसमें वह तेज़ाबीपन तब न रहा होगा, जोकि आज है। टौंस के पानी को बाँधनेवाली हरी-नीली काई की वे ज़ंजीरें भी तब न रही होंगी, जोंकि आज हैं पर वे जोंकें तो होंगी ही, जो समाज में रूंधे हुए जल

में पनपती है। वह धुँआ तो होगा ही जो हर भूखे खपड़ैल से उठता है और जीवन के कुल आकाश-अर्थों को चर जाता है। और मनुष्य? वह जो अपने अंदेशे से भी दुबला नहीं होता और वह, जिसकी ठठरियों पर जरा मांस नहीं, वह जो अपनी पक्की हवेली में बैठकर हलवा-पूरी खाता है और वह जो झोंपड़ी में बैठा सूखे चने चबाता है, वह जिसके लड़के दुशाला ओढ़कर निकलें और वह जिसके बच्चे ठंड से काँपते रहें—यह वर्गभेद तब भी रहा होगा, शायद उतना नंगा और बेबाक और विस्फोटक नहीं जितना कि आज है। शुक्लजी ने वह वर्ग-भेद देखा होगा, देखा और महसूस किया होगा। वे उसकी जड़ तक नहीं गए, क्योंकि उनके समय में प्रकृति और मनुष्य के पिछड़ेपन के बीच वह मैदान न था, वह तपता, धूलधूसरित, मूल्य-वंजर मैदान।... उस मैदान में खड़े-खड़े मुझे याद आई वे पंक्तियाँ, जिनमें अपनी परिवेश की चिनगारियों से झुलसता हुआ भी रामचंद्र शुक्ल का सामान्य मनुष्य कुछ आस्तिक मूल्यों को दृढ़ता से पकड़े हुए चलता चला जा रहा है।

शुक्लजी के कई रूप हैं। एक रूप वह जिसने *हिन्दी साहित्य का इतिहास* लिखा और गोया हमें वह झरोखा दिया, जिसमें बैठकर न सिर्फ़ साहित्य के इतिवृत्त का; बल्कि उसे संभव बनानेवाले हवा-पानी-मिट्‌टी का भी जायज़ा लिया जा सके। एक रूप वह जिसने छायावाद से लोहा लिया। एक वह जो 'हृदय का मधुभार' हल्का करने के लिए स्मृतिजीवी कवि बना। एक वह जिसने हिन्दी की विचार-शक्ति को देसी साँचे में ढालकर समालोचना के नए औज़ार गढ़े। एक ओर जिसने पूर्व और पश्चिम के द्वंद्व में अपनी ज़मीन का विवेक नहीं खोया और उससे बड़ी बात यह कि अपनी भाव-संवेदना के कपाट सदा खुले रखे। पर एक रूप जिसमें शुक्लजी के सभी रूप समाहित हैं, यानी सभी रूप इस एक रूप से निकले हैं, वह है उनका विशिष्ट और विलक्षण के विरुद्ध सामान्य और सर्वानुभूत का पक्षधर रूप। शास्त्रीय खंडन-मंडन के तमाम घटाटोप के बावजूद शुक्लजी के व्यक्तित्व का यह मूल रूप छिप नहीं सका है। आश्चर्य है, उनके इस तेजस्वी रूप पर अब तक विश्वविद्यालयों के शोध-पत्रों की गर्द ही झड़ती रही, नए लेखकों ने अपनी जन-प्रतिबद्धता की साख क़ायम करने के नाम पर भी उसका स्मरण नहीं किया।

धरती शुक्लजी के समान्य मनुष्य का संस्कार है, आकाश उसका कर्म। अपने संस्कारों से वह धरती की ही तरह ठोस है, अपनी संवेदना में मूर्त्त और वस्तून्मुखी। अपने कर्म से वह उड़ता है, आदर्श के पक्ष में हाथ उठाता है। उसके कर्म की उड़ान उसे धरती के गोचर रूपाकारों से परे नहीं ले जाती, बल्कि उसकी सूक्ष्म रसवत्ता से बाँधे रहती है। उसकी धरती का संस्कार उसे जड़, अतीतोन्मुख, गतिहीन नहीं बनाता; बल्कि भाव-क्षेत्र में चीज़ों को मज़बूती से पकड़ने और उन्हें उनके सही नामों से पुकाराने की ऊर्जा देता है। धरती के संदर्भ में जो कुछ इंद्रियातीत और अमूर्त्त

है, उसे वह संदिग्ध मानता है। आकाश के संदर्भ में जो कुछ ज्ञानातीत और अलौकिक है, उसे वह शक की निगाह से देखता है। प्रत्यक्ष यथार्थ से अलग अध्यात्म उसके लिए एक फ़रेब है, जैसे दूर कहीं धरती और आकाश का मिलन, जो जब नज़र आता है, तब धुँधलके में ही। यह धुँधलका ही वह छायावाद-रहस्यवाद है, जिसके ख़िलाफ़ शुक्लजी ने अपनी लड़ाई लड़ी।

शुक्लजी की इस लड़ाई का हीरो उनका वही सामान्य मनुष्य है। इस सामान्य मनुष्य को अपने साहित्य-दर्शन के केन्द्र में स्थापित करने के पहले शुक्लजी ने उसकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल कर ली है, उसे अंदर-बाहर से ख़ूब ठोक-बजाकर देख और दिखला लिया है। यह काम उन्होंने 1912 ई. से 1918 ई. के दौरान लिखे गए अपने मनोविकार संबंधी लेखों में किया। इसके पहले का शुक्लजी का कृतित्व एक तरह से उनका एप्रेण्टिसशिप-काल है, उनकी असली साहित्य-यात्रा इन लेखों से ही शुरू होती है। इन लेखों को पता नहीं क्यों आलोचक और विद्वान मनोवैज्ञानिक लेख कहते आए हैं, जबकि इनमें कोई मनोवैज्ञानिक गुत्थी नहीं सुलझाई गई। ये लेख दरअसल मानव-राग-विराग का वह ईंट-गारा-लोहा-लक्कड़ हैं, जिनसे साहित्य की इमारत का निर्माण होता है। इनमें शुक्लजी ने मानव-अस्तित्व के आधारभूत साँचों को पकड़ा है और उनसे साहित्य-रचना के विविध उपकरण और औज़ार गढ़े हैं। इन लेखों में शुक्लजी मानो यह बतलाना चाहते हैं कि साहित्य के भीतर का मनुष्य और मनुष्य के भीतर का साहित्य दोनों का मूल एक है : भाव। यह भाव महज़ एक रागात्मक वृत्ति नहीं, सिर्फ़ सेण्टीमेण्ट नहीं, शुक्लजी का 'तथ्य' है, जिससे वे मनुष्य और साहित्य तथा इनके परस्पर संबंधों का ब्योरेवार ग्राफ़ तैयार करते हैं। इसीलिए वे भाव को एकांत अनुभव की थरथराती उँगलियों से नहीं, विचार की मांसल दृढ़ता से पकड़ते हैं। इस भाव को वे हमेशा लोक-व्यवहार और नैतिक संवेदन की तुला पर तोलते रहते हैं। इससे एक तो भाव को आत्यांतिक हो जाने के छूट नहीं मिल पाती, दूसरे उसमें अराजकता के प्रवेश का डर नहीं रहता।

आत्यंतिकता और अराजकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, और सामान्य मनुष्य के लिए सबसे बड़ा ख़तरा इन्हीं से है। इसलिए शुक्लजी जहाँ भावदशा की बात करते हैं, वहाँ उसे ज्ञानदशा के साथ-साथ रखते हैं, बल्कि इससे भी एक क़दम आगे जाकर दोनों को मिलाकर एक नया सर्जनात्मक घोल तैयार करते हैं और उसे रसदशा का नाम देते हैं।

शुक्लजी के इस रसवाद पर दुर्भाग्य से शास्त्रीयता की इतनी मोटी पर्त चढ़ चुकी है कि उसके भीतर छिपे सामान्य मनुष्य के चेहरे को टटोलना एक दुस्साहसिक कार्य ही माना जाएगा। यह एक विचित्र संयोग है कि रसवाद के प्रबल समर्थक और रसवाद के प्रबल विरोधी दोनों ने ही उस चेहरे की पहचान को धुँधला बनाया है। पर हक़ीक़त यह है कि शास्त्रीयता की इस मोटी पर्त को हटाकर शुक्लजी के रसवाद

को ज़रा उलटिए-पलटिए तो उसमें व्यक्ति और समाज, अंतर्जगत और बाह्यजगत, रूप और वस्तु, अनुभूति और विचार जैसी मानव-जीवन की हमारी परिचित द्वंद्वात्मक इकाइयों को ही एक नए समीकरण में कसने की सर्जनात्मक उठान दिखाई देगी। शुक्लजी के इस समीकरण में एक ओर यदि भारतीय क्लासिक परंपरा से प्राप्त सामग्री है तो दूसरी ओर अपने समय का वह सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य भी है, जिसमें परिवर्तन और उथल-पुथल की गूँजें सुनाई पड़ने लगी थीं। यह स्मृति और घटित का युग्म शुक्लजी के दृश्यपटल के आगे बराबर रहा है। यदि उनका संवेदन स्मृति से रस खींचता है तो उनका विवेक घटित से उस रस को पकानेवाला ताप। इस समीकरण में परंपरा की स्मृति और यथार्थ का घटित चाहे बराबर के जोड़ीदार न हों, एक-दूसरे को आमने-सामने खुलकर चुनौती न देते हों, पर वे एक-दूसरे को दरगुज़र भी नहीं करते, उनमें एक संवाद लगातार बना रहता है। यह संवाद जिसे संबोधित है, वह है वही सामान्य मनुष्य।

इस सामान्य आदमी की जड़ गाँव है, वृंत शहर। यही नक़्शा स्वयं शुक्लजी का भी है। भावुकता, प्रकृति-प्रेम, लोकधर्म का मूल्यादर्श, भाषा में ठेठ हिन्दी का ठाठ—यह है गाँव। भाव-वस्तु-संबंध का सिर्फ़ अनुभावन नहीं विश्लेषण, खंडन-मंडन, तर्क, कटाक्ष और तेवर—यह है शहर। गाँव में चीज़ें, प्रतीतियाँ और सत्य परस्पर भिने हुए हैं, अचल और शांत और हृद्य। शहर में संवेदना की नाड़ी तेज़ चलती है, वहाँ तुर्शी और टकराव और विचलन है। शुक्लजी का शहर उनके गाँव पर रोपा हुआ नहीं है, उससे कल्ले की तरह फूटा हुआ है। जो राग गाँव में बहता है, वही शहर में विचार बनकर फैलता और फूलता है। शुक्लजी में राग और विचार के मेल से आदमी की जो रंगत उभरती है वह सामान्य का आदर्श है। इसीलिए वह आदमी पास का होता हुआ भी दूर का लगता है, सगा होते हुए भी सौतेला, सच होते हुए भी मिथ। राम में शुक्लजी ने तुलसीदास के सच को नहीं, अपने सामान्य आदमी के उसी मिथ को साकार किया है। इस सामान्य आदमी का एक चित्र *चिन्तामणि भाग-1* में संकलित 'लोभ और प्रीति' नामक निबंध में यों है : "मेरे देखने में तो वही रामभक्त-सा लगता है जो अपने पुत्र-कलत्र, भाई-बहिन, माता-पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते की चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्याचारी का हाथ थामने के लिए कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लहलहा उठता है और खिले हुए फूलों को देख खिल जाता है।" एक ज़माने में ड्राईंग मास्टर रह चुके समालोचक शुक्लजी राम के जिस लोकरक्षक और लोकरंजक अथवा सौन्दर्य, शक्ति और शील के समन्वित भव्य रूप का बख़ान करते नहीं थकते, यह चित्र मानों उसी का रफ़ है। ज़रा ग़ौर से देखिए तो रामभक्त और राम एक ही धातु के बने

नज़र आएँगे। जो साधारण और सर्वानुभूत है, वही विशिष्ट और समग्र। इसके बरक्स जो निरा विशिष्ट है, वह खंडित और अपूर्ण। राम दरअसल सामान्य आदमी का ही महाकाव्यरूप है, जीवन के समग्र पक्षों का प्रबंधात्मक शरीर। इस महाप्रबंध में सब जनों के सब भाव हैं। इस महाधारा से जो अलग हैं, वह खंड-भाव के एक गीति-लहर है, विशिष्ट और सीमित। शुक्लजी अपनी सहानुभूति में उस महाप्रबंध की सर्वलौकिकता के साथ हैं, इस लघु लोल लहर की ऐकान्तिक विशिष्ट छवि के साथ नहीं। यहाँ शुक्लजी मात्र एक समालोचक नहीं रह गए हैं, वे स्रष्टा हो गए हैं, क्योंकि वे सच को मिथ में बदल रहे हैं।

और सच क्या है? शायद वह रामभक्त भी शुक्लजी का असली सामान्य आदमी नहीं है। शायद वह रामभक्त भी सामान्य आदमी का रफ़ मात्र है। तो इस रफ़ का मूल क्या है? क्या वह शुक्लजी के वर्तमान में कहीं था। अखंड और संपूर्ण, या कि खंडित और छिन्न? क्या शुक्लजी ने उसे देखा था? देखा और महसूस किया था? शायद हाँ। शायद नहीं। हाँ, इसलिए कि उन्होंने सामान्य आदमी का अखंडित वर्तमान देखा था। नहीं, इसलिए कि उन्होंने सामान्य आदमी का खंडित भविष्य नहीं देखा था—

—बनारस में अस्सी से गुज़रते हुए काशीनाथ सिंह ने सड़क की दूसरी तरफ़ हाथ से इशारा किया। मैंने देखा, बोसीदा कपड़ों में मुख़्तसर-सा एक आदमी बैसाखियों पर खड़ा भीख माँग रहा था। वह—विक्षिप्त-सा—आदमी आचार्य रामचंद्र शुक्ल का नाती था। उस वक़्त मैंने उस आदमी के चेहरे पर क्या कुछ देखा था? करुणा? या व्यंग्य? या आक्रोश? क्या वही शुक्लजी के सामान्य आदमी का रफ़ था? खंडित और छिन्नमूल—

ऐसा क्यों होता है कि साहित्य तक आते-आते आदमी मिथ में बदल जाता है? ऐसा क्यों होता है कि मिथ में बंद एक सचमुच के खंडित आदमी की तस्वीर एक झूठमूठ के संपूर्ण आदमी की तस्वीर बन जाती है? क्या इस अंतर्विरोध की नोकें शुक्लजी को भी चुभती थीं?

कोई-कोई रचना अंतर्विरोधों को बढ़ाने में होती है। शुक्लजी का समय उस रचना का समय नहीं था। तब द्विवेदीकाल के निदाघ में तपे कविता के सूखे उपवन में मानों सशरीर कामदेव की तरह छायावाद अपनी लाक्षणिक बहारें दिखा रहा था, भाषा-विहग को नव-स्वर नव-पर दे रहा था। जो कि खड़ा-खड़ा सिकुड़ रहा था एक जगह वह सहसा फैलने लगा था, उड़ने लगा था। इतनी शिद्दत थी उस उड़ने में कि जो कुछ बाहर था, वह भी उड़ान थी; जो कुछ भीतर था, वह भी उड़ान थी। ठोस धरती-सा पुष्पों और पंखों के तले दबा हुआ वह जिसकी चमड़ी कड़ी धूप में दरक गई थी—वह ढहते महाजनी अर्थतंत्र में कसा-बसा किन्हीं स्थिर मूल्यों को हताश थापे हर परिवर्तन को अपनी आशंका में झेलता सामान्य मनुष्य—इस नए व्यक्तित्ववादी

भाव-प्रसार में कहीं न था। था महज़ उसका बिम्ब—कमनीयता विरोध से निरपेक्ष था जिसका बीज—एक ओर ढहते महाजनी तंत्र तो दूसरी ओर पूँजीवाद-व्यक्तिवाद से फूटती ऊर्जा से प्रभावित—मनुष्य में पड़ चुका था। छायावाद ने उस बीज को उगने, पनपने, बढ़ने देने के योग्य खाद-पानी-मिट्टी का वस्तुवादी आधार देने के बजाय उसे अपने भावोत्तेजित राग में घुला-मिला लिया। इससे जब मनुष्य के सीने से आह फूटती थी तो लामुहाला गान बनकर ही, आग बनकर नहीं। इस रागात्मक घुलावट में क्रमशः वस्तु-व्यापार का अवमूल्यन होता गया। अप्रस्तुत प्रस्तुत पर छाता गया। फिर वह समय भी आया, जब कवि अनुभूति के अगम अगोचर संसार में निर्बन्ध डूबने-उतराने लगे। ऐसे में जो चीज़ साफ़-साफ़ दिख रही हो, निकट की हो वह भी दूर-दूर, रहस्यमय और सांकेतिक नज़र आने लगे तो क्या आश्चर्य! काव्य में जब अव्यक्त और अनिर्वचनीय की धूम हो, तब अनुभूति की सही-सही पैमाइश और पड़ताल, उसके तथ्य और ब्यौरों का चुनाव और संघटन, उसकी मार्मिकता का अनुसंधान और नियोजन क्योंकर ज़रूरी हो! इस पृष्ठभूमि में, जबकि सच्चे काव्य और काव्यस्फीति के बीच फ़र्क़ करना मुश्किल था और सबकुछ हृदयमय हो रहा था, शुक्लजी का काव्य में बुद्धि-तत्त्व पर जोर देना लगभग एक क्रांतिकारी बात थी।

बुद्धि का काम वस्तु को प्रत्यक्ष करना है। अनुभववाद की अतल गहराई में डूबी काव्यार्थ की धरती को महावराह की तरह मूर्त्त-फलक पर सामने लाना है। बुद्धि-प्रसार से ही भाव-प्रसार संभव है, क्योंकि बुद्धि ही बाहर का गतिमय एक पूरा संसार प्रस्तुत करती है, भावोत्तेजन के लिए 'तथ्य' जुटाती है। जो लोग यह मानते हैं कि कविता कवि-मन के भीतरी परकोटे में ही निवास करती है, उनके कानों में शुक्लजी जब-तब तुलसी का अपना यह प्रिय पद ठूँस देते हैं—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी है राम, जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें।

जो भीतर है, वहाँ केवल डूबाना है, भूलभुलैया है, अराजकता है। जो बाहर है असली पुरुषार्थ वही है, क्योंकि अपनी अनुभूति की सच्चाई को मूर्त्त और प्रत्यक्ष और वास्तविक वहीं किया जा सकता है। बाहर का हाड़-मांसमय वस्तु-संसार आगे, भीतर का तरल अनुभूति-रागमय संसार उसके पीछे। इस बात के मर्म पर उँगली रखते हुए शुक्लजी कहते हैं : "यदि कवि ने ऐसी वस्तुओं और व्यापारों को अपने शब्द-चित्र द्वारा सामने उपस्थित कर दिया, जिससे श्रोता या पाठक के भाव जाग्रत होते हैं, तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका।" क्या यह 'बात बोलेगी हम नहीं' वाली बात ही नहीं है? पर सोचिए यह बात शुक्लजी ने तब कही थी, जब अनुभूति की साखी स्वयं अनुभूति थी। भाव और शब्द भीतर से उमड़ते थे और बाहर दो-चार पल अपनी चमक और रंगीनी दिखाकर भीतर-ही-भीतर खो जाते थे। शुक्लजी ने भीतर की इस अतर्क्य तानाशाही को चुनौती दी, क्योंकि उन्होंने देखा

कि यह भीतरवाद अंततः रहस्यवाद और कलावाद की ओर ही ले जाता है।

पर लगता है, उस भीतरवाद के विरोध की झोंक में शुक्लजी कुछ ज़्यादा ही दूर तक निकल गए। 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन में साहित्य-परिषद के सभापति-पद से उन्होंने एक भाषण दिया था। उसमें रहस्यवाद-छायावाद की तार-तार बखिया उधेड़ने के सिलसिले में उनके मुँह से न जाने कैसे एक विस्फोटक वाक्य निकल गया। उस वाक्य का सार यह है कि वाच्यार्थ ही काव्य है व्यंग्यार्थ नहीं। वाच्यार्थ याने अभिधा, व्यंग्यार्थ याने व्यंजना। इस वाक्य को जब मैंने पढ़ा तो चकराया। चकराया इसलिए नहीं कि शुक्लजी जैसे भाववादी आलोचक के मुँह से यह वाक्य कैसे फूट पड़ा। चकराया इसलिए कि लगभग इसी आशय को व्यक्त करनेवाली बात उसके तीन दहाई बाद 'ताज़ी कविता' के प्रथम नागरिक ने प्रयोगवाद—नई कविता की तार-तार बखिया उधेड़ने के सिलसिले में कही। मुझे *क ख ग* (इलाहाबाद से प्रकाशित त्रैमासिक) में छपे लक्ष्मीकांत वर्मा के 'ताज़ी कविता : कुछ जोड़ बाक़ी' शीर्षक निबंध की वे पंक्तियाँ याद आईं, जिनमें उन्होंने छायावाद की भाव-रँगी व्यंजना-पगी काव्यभाषा और प्रयोगवाद नई कविता की 'चार्ज्ड भाषा' के मुक़ाबले मैथिलीशरण गुप्त की ठंडी सड़क-छाप भाषा को आदर्श भाषा माना है—सड़क-छाप इसलिए कि उसमें कवि के भाव और शब्द सड़क के बीचोंबीच आगे-पीछे चलते हैं, सड़क की दो अलग-अलग पटरियों पर बीच में फ़ासला रखते हुए नहीं। मतलब कि वह भाषा भाव को उतने ही तोला-माशा-रत्ती अर्थ के साथ व्यक्त करती है, जितना कि कवि चाहता है कि वह करे। मज़ा यह है कि शुक्लजी ने भी अभिधा में ही काव्य है यह दिखाने के लिए मैथिलीशरण गुप्त को ही याद किया। गुप्तजी की बस एक पंक्ति 'जो कर हाय पतंग मरे क्या' में उन्होंने क्या-क्या नहीं देख लिया! शायद छायावाद की अंतर्मुखी लाक्षणिक व्यंजनावाली लतपथ काव्य-भाषा से मुक्त एक सीधी-सादी भाषा के अपने आदर्श का जीता-जागता विकल्प। हमारे अपने समय में भी डॉ. नामवर सिंह की अगुवाई में युवा कविता के अलमबरदारों ने कभी सपाटबयानी के बारे में सह-चिन्तन किया था तो शायद इसीलिए कि ये लोग भी बिम्बों-प्रतीकों के घटाटोप जंगल में घिरी कविता के वास्ते अपने जाने-पहचाने यथार्थ अर्थ की एक पगडंडी तलाश कर रहे थे। तो क्या शुक्लजी का वाच्यार्थ, लक्ष्मीकांत की ठंडी, नंगी भाषा और नए कवियों-आलोचकों की सपाटबयानी कहीं किसी बिन्दु पर मिलते हैं? या इनका नाता सिर्फ दूर की कोड़ियों का ही नाता है?

इसकी तफ़सील में हम नहीं जाएँगे। एक बात लेकिन तय है कि शुक्लजी उस तरह सरासर अभिधावादी नहीं हैं, जैसा समझकर उनके विरोधी आलोचक कुपित और उनके प्रिय शिष्य तथा *रस-मीमांसा* के संपादक पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र खिन्न हुए थे। अपने उसी इंदौरवाले भाषण में एक जगह पर शुक्लजी कहते हैं; "अत्यंत अयोग्य और असंबद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन-भर

की योग्यता छिपी रहती है... ।'' इस वाक्य में 'प्रलाप' शब्द पर ध्यान पहले अटकता है, फिर हम यह भी पाते हैं कि 'योग्य' के साथ 'अयोग्य' और 'खुली' के बग़ल में 'छिपी' भी है। याने अर्थ-प्रस्फुटन की संभावना शुक्लजी न सिर्फ़ उसमें देखते हैं, जो सामने हो और पकड़ में हो, बल्कि उसमें भी जो ठीक-ठीक पकड़ में न आता हुआ भी कहीं हो। इसे देखते हुए यह कह सकना आसान नहीं लगता कि शुक्लजी कविता की नाक पकड़कर उसे खुल्लमखुल्ला अभिधा की सपाट ठंडी सड़क पर चलाना चाहते थे। वे दरअसल कविता में अनुभूति, अप्रस्तुत, अमूर्त्त इत्यादि की बेरोक-टोक इकतरफ़ा कार्रवाई को समाप्त कर भाव और विचार, अंतर्जगत और वस्तु जगत, व्यक्ति और परिवेश की परस्पर निर्भर और अपेक्षाकृत जटिल एक अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण नैतिक कार्रवाई की माँग कर रहे थे।

कविता से इस तरह की माँग उस वक़्त के मुलायमपंथी रुख़ को देखते हुए एक सख़्त और अक्खड़ माँग थी। पर इस माँग में जो चुनौती थी, उसे लगता है, शुक्लजी भविष्य की—आज की—कविता के सामने फेंक रहे थे। कविता में वे मूलतः भाव को ही प्रधान मानते थे, पर उनका यह भाव छायावादियों का सिर्फ़ सेण्टीमेण्ट अथवा अनुभूति की सरल एकायामी अवस्था नहीं था। *रस-मीमांसा* में एक स्थान पर वे कहते हैं : ''भाव का अभिप्राय साहित्य में तात्पर्य-बोध मात्र नहीं, बल्कि वह वेगयुक्त और जटिल अवस्था विशेष है, जिसमें शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति दोनों का योग रहता है।'' शुक्लजी के एक कथन ('वाच्यार्थ ही काव्य है, व्यंग्यार्थ नहीं') के आधार पर ही जो लोग यह निष्कर्ष निकाल बैठे कि शुक्लजी अभिधावादी हैं, उपर्युक्त उद्धरण को देखते हुए निश्चय ही वे उनके प्रति अन्याय कर रहे थे। हक़ीक़त यह है कि साहित्य के भावन को मात्र तात्पर्य-बोध तक ही सीमित न रखकर जहाँ शुक्लजी यह बतलाना चाहते थे कि रचना में 'बाहर' की सपाटबयानी ही सर्वोपरि नहीं है, वहाँ यह भी कहना चाहते थे कि भाव की बहुआयामी जटिलता अपने को संपूर्णतः 'भीतर' के अंतःप्रवाह के हवाले करके नहीं हासिल की जा सकती। सच्चे काव्य की सिद्धि वे शरीर-वृत्ति और मनोवृत्ति के योग में देखते थे, जो और कुछ नहीं वस्तु की भौतिक सत्ता ('बाहर') और वस्तु की भावसत्ता ('भीतर') के ही पर्याय हैं। छायावाद में ये दोनों सत्ताएँ एक-दूसरे को परस्पर ओढ़ती थीं, एक-दूसरे को ओट प्रदान करती थीं और इस तरह एक-दूसरे को अपने लिए प्रयोजनीय बनाती थीं। इधर शुक्लजी कविता के जिस रूप के रसिक थे, उसमें इन सत्ताओं का अपने-अपने तेज-बल के साथ परस्पर एक नए समवाय में मिल जाना अनिवार्य था। इन दो सत्ताओं के बीच टकराव और सतत तनाव की कल्पना शुक्लजी उस समय न कर सकते थे। पर उस समवाय में जिस क़िस्म की कविता की छवि को उभरते वे देखना और दिखलाना चाहते थे, उसमें सिर्फ़ घुलावट की समरसता न थी, बल्कि संभावना की बेचैन गतिशीलता थी। वे वस्तु और भाव के योग में एक नए रचना-क्रम की सुगबुगाहट

देखते थे, दोनों का एक-दूसरे में तिरोभाव नहीं।

शुक्लजी ने अपने वस्तुबोध और भाव-संवेदना दोनों को ख़ूब कसा होगा, एक दृष्टिबिन्दु पर उन्हें एकाग्र साधा होगा और तभी वह रचनात्मक संक्रमण घटित हुआ होगा जिसमें विचार अपने को तर्क की गुंफित प्रखरता में नहीं, अनुभूति की पारदर्शी तरलता में व्यक्त करता है। ऐसे क्षणों में सहसा उनके रचना-विवेक का पथ अपने समय से आगे बहुत दूर तक झलक उठता है। किसी ऐसे ही पारदर्शी क्षण में शुक्लजी ने ये पंक्तियाँ लिखी होंगी : "बहुत-सी कविता अनुभूति-दशा में नहीं होती, स्मृति-दशा में होती है। जो यह कहे कि जो कुछ हमारे भीतर था, सब हमारी कविता में आ गया है; उसमें काव्यानुभूति का अभाव समझना चाहिए और उसकी कविता को कवियों की वाणी का अनुकरण मात्र।" यह घनीभूत पीड़ा के मस्तक में स्मृति-सी छा जानेवाली बात नहीं है, क्योंकि यहाँ कविता के आँसू बनकर अभिव्यक्त हो जाने की सहूलियत नहीं। यहाँ तो कविता शब्द के ही नहीं अनुभूति के भी परे उस स्मृति में है, जहाँ अनुभूति है और शब्द है और कवि नहीं है। कवि अभिव्यक्ति के क्षण में ही है, न उसके पहले न उसके बाद। अगर है तो एक प्रकार का मूक कवि—अनुभूतियों को जीता हुआ, शब्द से मोहताज। अनुभूति तलाश के लिए कविता बार-बार अनुभूति और शब्द का नया सिलसिला जोड़ती है और पाने में कुछ छूट जाने की संभावना को पुनः-पुनः जन्म देती रहती है। यह काव्यानुभूति को पूरा-का-पूरा भाषा में निचोड़ न सकना क्या यह साबित नहीं करता कि कविता भाषा के बाहर भी है?

भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है। कविता इन दोनों की संधि पर है। कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है भाषा के बाहर के कर्म से। बौने जीवन से बड़ी कविता नहीं पैदा होती। पर जीवन बौना कर्म की असिद्धि से नहीं, कर्म-क्षेत्र की विविधता का अनुसंधान न करने से बनता है। कर्म-विस्तार का हर रेशा एक नई संपृक्ति से जीवन के राग को वस्तु से बाँधता है, जो सिर्फ़ एक बिम्ब है उसे सत्य, जो महज़ एक चमकता अहसास है उसे प्रखर किरणोंवाला सूर्य बनाता है। कविता सीधा-सीधा कर्म नहीं, पर हमने जीवन में कर्म की जो दिशाएँ खोजी हैं उनका वह फलक है। कविता की नब्ज को छूकर हम महसूस कर सकते हैं कि उसमें हमारा कितना रक्त कितने ताप और दबाव और प्रवाह के साथ दौड़ रहा है।

कर्म की दिशाएँ...दिशाहीन कर्म नहीं...अनुभूति में से ही वे दिशाएँ अपने साथ कर्म को लेकर फूटें, फूटें और अनुभूति की सीमाओं को खोल दें, ताकि वह जो स्मृति में बंद है पिघले, पिघले और बहकर यथार्थ की धरती को चूमे...धरती के अनेक रंग कोमल और कठोर, भीषण और सरस, मृदु और प्रचंड, कटु और मधुर अनुभूति-जल में प्रतिबिम्बित हों, घुलें, प्रवाहित हों; जीवन के राग-खंड-आपस में टकराएँ, छिलें, टूटें, बनें, ढलें। इस अनवरत सिलसिले में जो कविता बनेगी, उसकी घड़न में टूटन

के भी खुरदुरे निशान होंगे, उसकी कोमलता के पीछे एक उतना ही कठोर चेहरा सदा रहेगा, उसकी प्रचंडता एक मृदुता को ओट लिए हुए होगी। इस कविता का सौन्दर्य कर्मभूमि का सौन्दर्य होगा। उसमें सिर्फ़ दीप्ति न होगी, दाह भी होगा, केवल शांति ही नहीं कोलाहल भी होगा, प्रबोध ही नहीं, ललकार भी, गूँज ही नहीं गर्जन भी। वह सौन्दर्य गंतव्य पर पहुँची हुई कला का सौन्दर्य नहीं, रास्ते के पत्थरों के ख़िलाफ़ अपने पाँवों की आज़माइश का सौन्दर्य होगा; अपनी कमाई हुई पूँजी के उपभोग का नहीं, उसे नई प्रेरणाओं में डालने के प्रयत्न का। यह कविता बड़ी होगी महज़ अनुभूति की चरितार्थता से नहीं, बल्कि अनुभूति की संभावना से। एक तरफ़ कविता की वह कर्मभूमि, जिसमें आदमी मानों दो पहाड़ों को अपनी कुहनियों से ठेलता आगे बढ़ता चला जाता है और दूसरी तरफ़ कविता की भोग-भूमि, जिसमें आदमी अपनी अंतःरागिनी के वैभव में ठिठका, द्वंद्व से स्थगित है। एक में वह स्मृति को घटित में बदलता है; दूसरे में घटित को स्मृति में। एक में फैलाव है, उमगन और स्फुरण; दूसरे में संकोच और घिराव और केन्द्र का एकांत सेवन।......

मैं अपने आसपास निगाह दौड़ाता हूँ—क्या मैं वहाँ खड़ा हूँ जहाँ सौन्दर्य एक जिजीविषा है? या वहाँ जहाँ सौन्दर्य कला का सिर्फ़ एक आयाम? मैं अपने आस-पास देखता हूँ और गोया अपने को समझाते हुए कहता हूँ, उपभोग की कविता का बीजभाव 'व्यक्ति' है और संघर्ष की कविता का 'जन'। पर मेरे आसपास फ़िलहाल एक शब्दों का शोर और गर्द है, जो इन दोनों पर पर्दे की तरह टँगा हुआ है और जिसमें इनकी अलग-अलग पहचान धूमिल पड़ गई है। कभी-कभी लगता है, जैसे जनसंघर्ष के तेवरवाली कविता की तनी हुई मुट्ठियाँ लूट में अपने हिस्से की माँग के लिए हैं और व्यक्तिराग के ऐश्वर्य में आकंठ डूबी हुई कविता जन-क्रांति के मंच से तीन सौ तीन बार नारे लगवा रही है। दोनों ही शब्दों का भोग लगा रहे है। अघाई हुई शब्द-चेतना कविता में बहुत बारीक, बहुत नफ़ीस कात रही है। समय की मार से लहूलुहान आत्मा पर शब्दों की पट्टयाँ लगी हैं...नहीं, सजी हैं।

शुक्लजी को कविता में सजावट से सख़्त चिढ़ थी। सजावट को वे भोग-सौन्दर्य की ही चित्रसृष्टि मानते थे, जिसे कविता के बैठकख़ाने में टाँगकर कवि अपनी असामान्य रुचि का परिचय देता है। सजावट याने विशिष्ट का भोग। चमक-दमक, शोभा, लालित्य। इनसे घर का वह पिछवाड़ा छिपा रहता है, जहाँ ऊबड़खाबड़पन है, असमानता है, अंतर्विरोध है। ख़ून-पसीना बहाकर कुछ अर्जित करने के बजाय जैसे अनायास बिना हाथ-पाँव डुलाए कुछ हासिल हो गया हो और कविता में कलंगी सँवारकर और पंख फैलाकर बैठ गया हो। जो कुछ मिला उसके पीछे न कोई टूटन, न छीजन, न तड़प। बस एक निठल्ले ऐश्वर्य की बपौती। सजावट है, तभी तो शब्द की जड़ें अर्थ के ख़ूब भीतर ख़ामोश उस हाहाकार तक नहीं पहुँच पाती; जो सामान्य जन में है। शब्द तक ही रह जाता है। शब्छ शब्द को ही चुनता है, उसे ही बजाता

है। यह शब्द-बाजा कब तक बजेगा? क्या यह मैं पूछता हूँ—एक कवि? या वह अर्थ, जो जन-जन में है, सबका है, सामान्य है?

मैं अपने आसपास देखता हूँ। अख़बार की एक कतरन पर मेरी निगाह थम जाती है। उसमें छपा है : ''पहले के मुक़ाबले शायद अब ऐसे नागरिक अधिक हैं, जिनके लिए उनका समय सिर्फ़ राजनैतिक गतिविधियों, राजनेताओं और आर्थिक उथल-पुथल का नहीं है; बल्कि वह ऐसा हो, जिसमें कुमार गंधर्व गाते हैं, उस्ताद अली अकबर सरोद बजाते हैं, यामिनी कृष्णमूर्ति 'अंतरिक्ष को संक्षिप्त अनंत में ढालते हुए' नाचती हैं, सत्यदेव दुबे या हबीब तनवीर नाट्य करते हैं, डी.जे. जोशी और रुद्र हांजी कलाकृतियाँ बनाते हैं और शमशेर, त्रिलोचन और श्रीकांत वर्मा कविताएँ करते हैं...।'' तो क्या हम सचमुच ही राजनैतिक रगड़ा-रगड़ी और आर्थिक हाय-हाय के समय को पारकर (या उसे ओटकर?) कलाओं के स्वर्णयुग में प्रवेश कर चुके हैं? शहर-शहर में मुनादी की तरह फिरती हुई इस ख़बर में कलाओं का स्वाद लेने की जो शैली जिस भाषा में बयान की गई है, वह क्या मसनद से उठँग कर आँख मूँदकर कला से आनंदित होने की, या अपने को आनंदित होने देने की, शैली नहीं है? क्या फ़ुर्सत की कला से अपने जीने को समृद्ध करने से पहले हम जीवन-संघर्ष की आग में पूरा-पूरा दह चुककर, तप चुककर बचे हुए निकले हैं? मैंने सोचा, क्या उस आग में दहने की कविता ही 'जन' की कविता नहीं है? क्योंकि यह दहना ही तो आज के सामान्य आदमी की नियति और शक्ति है, यही खटना और छीजना और इसमें अपनी आदमीयत को बचा रख सकनेवाली जिजीविषा के कण ढूँढ़ना और पाना। हाँ, हाँ, संघर्ष का भी रस होता है, तरलता और लय, चित्र और संगीत। संघर्ष सिर्फ उद्विग्न ही नहीं करता, तल्लीन भी करता है गो उस उद्विग्नता में महज़ धुआँ ही नहीं और उस तल्लीनता में भी सिर्फ़ विस्मरण नहीं। आज की रस-मीमांसा कविता की पंक्तियों में लिखी जा रही संघर्ष-मीमांसा है और इसमें सिर्फ़ कवि ही शामिल नहीं, वह 'जन' भी है जिसकी एकमात्र पूँजी उसके बेराज़गार हाथों का जाँगर है। कवि! यदि कुछ कर सकते हो तो कृपया इन बेरोज़गार हाथों को सिर्फ़ अपने शब्दों से न थामो।

(*रामचंद्र शुक्ल* से)

काव्यभाषा का इकहरापन

अक्सर यह मान लिया जाता है कि काव्यभाषा का संकट अनुभूति का संकट है। अनुभूति का संकट अर्थात् कवि के भावयंत्र का जीवानुभूति के अधिक-से-अधिक सुरों से न बज उठना। अनुभूति ऐसा जल है, जो काव्यभाषा में अपना धरातल अपने आप ढूँढ़ लेगा, बशर्ते कि जल हो, काफ़ी हो और उसमें प्रवाह हो। काव्यभाषा की क्षमता यह अनुभूति का जल ही निर्धारित करेगा। जहाँ अनुभूति का सोता ही सूख चला हो, वहाँ काव्यभाषा की बेल तो मुरझाएगी ही—इस तर्क का सरल गणित हमें भाता है। हमने कविता की अपनी समझ पर इस तर्क को ख़ूब मांजा है और कविता में उसके परिणाम भुगते हैं।

एक काव्यभाषा ऐसी कि उसमें रचना का अर्थ 'घूर' कर देखने से उड़ जाए—मानों उस अर्थ को आप अर्द्धनिमीलित आंखों से ही देखते रह सकते हैं। यह अर्थ भावनाओं की दलदल में पंख-लिथड़ा स्थिर खड़ा रहता है, पंगु और करुण। ऐसी काव्यभाषा के पीछे अनुभूति की ताकत, जितनी भी ज़्यादा वह हो, का मतलब यह हो कि वह रचनात्मक अर्थ अपने पंगु स्थिरपन के प्रति ज़िद्दी है, एक निश्चित संवेदना-वृत्त पर ही घूमता है, रंग उसका अपरिवर्तनशील है और बुनावट उसकी निर्मम रूप से इकहरी। अनुभूति के बावजूद इकहरी।

एक दूसरी काव्यभाषा ऐसी कि उसमें रचनात्मक अर्थ की कोई 'जड़' ही नहीं—उसके पीछे अँधेरे के रस का वह लंबा और गझिन सिलसिला ही नहीं, जिससे अप्रत्याशित अर्थ की कोंपल फूटती है। यह काव्यभाषा अपने अस्तित्व के लिए भूमिगत विस्फोटों पर नहीं, सतह के तनावों, हलचलों, आंदोलनों पर मुनहसिर है। सतह पर बहुत कुछ घटित हो रहा है, पर इस काव्यभाषा के लिए वह बहुत कुछ एक तेज़ रोशनी में घटित हो रहा है; जिससे जो कुछ घटित हो रहा है, वह साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा है और ज्ञान की पकड़ में आ रहा है। सपाट और बेलौस और नंगा। यथार्थ और उसके साक्षात्कार में कोई आड़ नहीं, अनुभूति तक की आड़ नहीं। गोकि अनुभूति है—किसी आदिम जड़ की शिराओं से उमड़-उमड़कर सतह पर आती हुई नहीं, बल्कि अपने चारों और सब कुछ बैहिचक देखनेवाली आँख पर रोशनी की नोक की तरह

सन्नद्ध। पर इकहरापन यहाँ भी है।

आज के अनुभव में ही फाँक है। अपने आसपास से जो जितना जुड़ा है, वह अपने आप से उतना ही बेगाना है। इससे जो स्थिति बनती है, उसमें या तो जानना ही जानना है या महसूस करना ही महसूस करना है। इस फाँकयुक्त अनुभव में जानने की अनुभूति भी है और महसूस करने की अनुभूति भी। जानने और महसूस करने के बीच युग-संवेदना की वह ट्रेजिडी है जो इस या उस पक्ष में बह जाती है। पूरी अनुभूति के साथ बह जाती है। जिनकी काव्यभाषा इकहरेपन से पीड़ित है उनकी अनुभूति की सच्चाई के बारे में मुझे कोई संदेह नहीं, क्योंकि दरअसल काव्यभाषा के इकहरेपन की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ अनुभूति पर नहीं, अनुभूति के साथ कवि का रिश्ता किस क़िस्म का है, इस पर है। कवि अनुभूति के साथ किस क़िस्म का सुलूक करता है, वह अनुभूति को किस प्रणाली द्वारा रचना में स्वायत्त करता है, किन रास्तों से चलकर अनुभूति का सत्य रचना के सत्य में बदलता है—इस रूपांतरण में कवि किस रसायन का इस्तेमाल करता है—ये सब काव्यभाषा के स्तर का निर्माण करते हैं, अकेली अनुभूति नहीं।

रचना अनुभव में धँसने, डूबने और तड़फड़ाकर कुछ पा लेने की एक जटिल प्रक्रिया है। इकहरेपन से पीड़ित काव्यभाषा यह ज़ाहिर करती है कि कवि ने उस जटिल प्रक्रिया में पड़ने के बजाय अनुभव को स्वायत्त करने का एक आसान नुस्खा अपनाया है। अतः इकहरी काव्यभाषा में अर्थ जल्दी समझ में आ जाता है, क्योंकि वह अर्थ परिभाषित अर्थ होता है और पाठक को सिर्फ़ 'समझे' जाने का सुख देता है। वह अर्थ एक ठहरा हुआ अर्थ है—रचना के भीतर अनुभूति और शब्द से बने परिवेश में ठहरा अर्थ। उस परिवेश में वह अर्थ न अनुभूति और शब्द के किसी नए संबंध को तलाशता है न अपने में किसी नए संबंध को बनने देने की गुंज़ाइश रखता है, न ही जो संबंध बन गए हैं उन्हें तोड़ता है। यह अर्थ की कविता में सदा के लिए खुद गई छाप ही काव्यभाषा का इकहरापन है।

छाप यानी साँचा। इस साँचे को सिर्फ़ अनुभूति नहीं तोड़ सकती। क्योंकि अनुभूति भी आज एकजुट नहीं रही, जानने और महसूस करने में बँट गई है। कवि का या तो सब कुछ बाहर है या सब कुछ भीतर। बाहर और भीतर के बीच अनुभूति केवल एक तरफ़ को खुलनेवाले किवाड़ की तरह है, जिससे बाहरवाला जब भीतर आता है, तब बाहर को वहीं छोड़ आता है और जब भीतरवाला बाहर जाता है तो बाहर का ही होकर रह जाता है। अपने परिवेश से अनुभव के स्तर पर दोनों जुड़ते हैं और उन संकटों का सामना करते हैं, जो उस जुड़ने से पैदा होते हैं। पर एक अपनी समस्या का हल सपाटबयानी में—यथार्थ के बिना लाग-लपेट के नंगे साक्षात्कार में—ढूँढ़ता है तो दूसरा उसे जातीय स्मृति के बहुस्तरीय अर्थ-गौरव में। पहला यथार्थ को पहचानता है, पर उस पहचान में कुछ जोड़ता नहीं; जबकि दूसरा उस यथार्थ

को टटोलता और छूता है, पर उसे पहचानता नहीं। काव्यभाषा का इकहरापन एक दुर्घटनाग्रस्त रचना-प्रक्रिया का सवाल है, काव्यभाषा को जातीय स्मृति के अर्थ-वैभव से जोड़ना उसका जवाब नहीं। दुर्घटना का इलाज सुरक्षा के साधन अपनाना नहीं, दुर्घटना की संभावना को ही ख़त्म कर देना है।

सपाटबयानी को 'आम आदमी' के साथ जोड़ा गया है। 'आम आदमी' व्यापक जीवनानुभव का प्रतीक है। यह माना गया कि इस व्यापक जीवनानुभव में शिरकत भाषा के सौन्दर्यवादी संस्कार को तोड़कर की जा सकती है। भाषा आज के संघर्ष में तप रहे उस अनुभव से जुड़ने का साधन नहीं, हथियार है। भाषा की सपाटबयानी उस हथियार की धार है, जो हाथी दाँत की मीनारों में बंद अभिव्यक्ति के जाल-जँजाल काटेगी और उसे आम आदमी की नियति के साथ एकाकार करेगी। घनघोर भीतर के बाहर के बीहड़ इलाक़े की यह यात्रा—'आम आदमी' की राह पर चलकर भाषा को मुक्त करने का यह अभियान शुरू में फलप्रद रहा। काव्यभाषा से काई की तरह लिपटी चली आ रही बहुत-सी 'साहित्यिक' स्मृतियाँ अलग हुई, बाहर की आग में झुलसकर नष्ट हुईं और अभिव्यक्ति का रूप मानवीय संवेदना को उसकी तात्कालिक प्रखरता में झलका सका। पर शीघ्र ही भाषामुक्ति के इस अभियान में इतने मुज़ाहिद शामिल हो गए कि अनुभव जीवन को उसकी विविधता और तीव्रता में जीने का नाम न होकर जीवन के प्रति एक कामचलाऊ रवैया हो गया। 'आम आदमी' एक संघर्षरत मनुष्य की तरह नहीं, एक अवधारणा की तरह आया और भाषा में कविता को विस्थापित कर बैठ गया।

'आम आदमी' वाली कविताओं में अक्सर प्रयुक्त 'हम' किसका सूचक है? दूसरों के अनुभवों में शरीक होने का? या फिर यह 'हम' एक नेकी का दरिया है, जिसमें 'मैं' को डालकर बहा दिया गया है?

पर एक निकम्मी चीज़ है भाषा
इसके मारे परेशान हूँ
जहाँ अनुभूति की पूरी सच्चाई से लिखना चाहता हूँ 'वे'
वहाँ हो जाता है 'मैं'

यह 'मैं' का आत्मव्यंग्य के स्वर में किया गया विलाप नहीं, 'हम' की जीत की हँसी का निर्लज्ज शोर है। 'हम' अलग-अलग मानव-इकाइयों का ज्ञान है, पर यह ज्ञान कविता में सिर्फ़ जानकारी बन सका, अंतर्दृष्टि नहीं। जीवन को जानना अवश्य ही जीवन को जीना भी है, पर यह जीना अपर्याप्त जीना है। जीवन को अपर्याप्त जीना तनाव की सतह पर जीना है। 'आम आदमी' वाली कविताओं का 'हम' सतह के तनाव तक ही सीमित है, वह भीतर की उन असंख्य और सुदीर्घ जीवन-नाड़ियों के रस-स्त्रोत से नहीं जुड़ सका, जो जीवनबोध को अधिक जटिल, संश्लिष्ट और संपूर्ण बनाता है। देखें तो युवा कवियों द्वारा लिखी गई अधिकांश लंबी

कविताएँ इस 'हम'-मनोविज्ञान से प्रेरित कविताएँ है। 'हम'-मनोविज्ञान में पड़ा कवि परिवेश, व्यक्ति और वस्तुएँ—सब कुछ को एक सतही भाईचारे में शामिल कर लेता है, पर असल में पूरी तरह पूरे मन से वह जुड़ता किसी एक से भी नहीं। 'हम' की ओट लेकर वह 'मैं का शिकार करता है, पर दूसरी तरफ़ 'मैं' की रक्षा भी करता है। दूसरों का हो जाने की कामना रखते हुए भी वह अपने स्वत्व की इकाई को 'हम' की दहाई में मिलाकर विलीन होने देना नहीं चाहता। पर काव्यभाषा का इकहरापन वह आईना है, जो उसके वास्तविक चरित्र को उघाड़ देता है। यह चरित्र है न तो अपना न ही दूसरों का हो पाना—

हाँ हो सके तो बग़ल से गुज़रते हुए उस आदमी से कहो—
लो, यह रहा तुम्हारा चेहरा,
यह जुलूस के पीछे गिर पड़ा था

पर इस आत्मबोध के लायक़ ज़मीन 'हम' मनोविज्ञान के कवि के पाँव के नीचे कब की निकल चुकी होती है। कविता चीज़ों को चीज़ों से, व्यक्ति को व्यक्ति से और व्यक्ति को चीज़ों से जोड़कर अनुभव का एक संघटित संसार बनाती है। इकहरेपन से पीड़ित भाषा में इस संसार के जोड़-जोड़ खुले हुए और व्यक्ति और वस्तु के तमाम तरह के संबंधों के पुल टूटे हुए होते हैं। 'हम'—मनोविज्ञान की लंबी कविताएँ 'मैं' और 'हम' के बीच के वही टूटे हुए लंबे पुल हैं।

कविता में सपाटबयानी की जो करुण परिणति भाषा के इकहरेपन में हुई, उसे देखकर कुछ लोगों को जातीय स्मृति का ख़याल आया। यह समझा गया कि भाषा में अर्थ की तहें पैदा करने के लिए हिन्दी काव्यरचना के इतिहास की यादें, चित्र मालाएँ, प्रतीक ध्वनियाँ और विन्यास, यानी हिन्दी के जातीय संसार की उपलब्ध सामग्री का उपयोग कारगर सिद्ध होगा। पर दुर्भाग्य से भाषा की जातीय स्मृति से जोड़कर उसे अधिक अर्थपूर्ण बनाने की जो मिसालें हमारे सामने हैं, उनके परिणाम अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं है। कुँवर नारायण का 'आत्मजयी' और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' यदि ये केवल दो उदाहरण लें तो यह सहज ही देखा जा सकता है कि आज की रचनात्मक लड़ाई कल के हथियारों से नहीं लड़ी जा सकती; या फिर आज की जुझारू संघर्ष-चेतना को कुंद करके, 'वर्तमान' के साथ अनिवार्यतः जुड़ी आदमी की रचनात्मक नियति को स्थगित करके ही लड़ी जा सकती है। इस लड़ाई में जीत हमेशा 'शाश्वत' की ही होती है और वर्तमान उसमें बार-बार मरता है। जहाँ यह दो टूक फ़ैसला नहीं है, वहाँ समय-बोध की खंडित पहचान है। 'आत्मजयी' में उसी खंडित पहचान का संशय है। अज्ञेय की कविता 'शाश्वत' के प्रति अपेक्षाकृत ज़्यादा आश्वस्त है और उसी हद तक आज की काव्यचिन्ता के लिए अप्रासंगिक। दरअसल अपने समय की चुनौतियों से निबटने के लिए अतीत-समय की प्रेरणा-भूमियों में जाना आज के अंतःसंघर्ष को मंद और गुमराह करना है। कविता के इकहरे संसार की विपन्नता

स्मृति की अर्थच्छवियों से भरी जाकर नहीं दूर की जा सकती।

वस्तुतः भाषा का इकहरापन जातीय संसार की यादों से रहित होने की वजह से नहीं, बल्कि इसलिए है कि अपने समय को पूरी भाव और बुद्धि-ऊर्जा के साथ जिया नहीं गया है। पूरी आसक्ति और उत्कटता के साथ। वह जीना एक लपट की तरह का जीना होता, जिसमें अतीत के शाश्वत बिम्बों का जड़ीभूत सौन्दर्य और भविष्य की अयथार्थ अमरता का बिम्ब दोनों ही जलकर राख हो जाते और हमारे समय का रचनात्मक अर्थ फ़ीनिक्स पक्षी की तरह इस राख से जीकर निकलता। फ़िलहाल स्थिति यह है कि हममें समय की अनुभूति है, पर उसके रस से निकली हुई वह अग्नि-दृष्टि नहीं, जो इस रस को पकाकर रसायन बना दे। अनुभव से साक्षात्कार के क्षण को उसकी चरम परिणति तक पहुंचाने के पहले ही हमारा कवि फट जाता है, शब्द और अर्थ एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और काव्य-संवेदना कच्चे बीजों की तरह बिखर जाती है।

इससे बढ़कर विडंबना और क्या होगी कि कवि-प्रतिभा के इस दारुण हाथ को आज की रचनात्मकता की एक बुनियादी शर्त मान लिया जाए और इसी में आगे की संभावना देखी जाने लगे। युवा आलोचक नित्यानंद तिवारी जब यह कहते हैं कि: "आदमी जिन छोटी-बड़ी, अच्छी बुरी, सुंदर-कुरूप परिस्थितियों में घिरा है, उनके भीतर से गुज़रने के अलावा वह और क्या कर सकता है। ऐसी हालत में एक-एक परिस्थिति और अनुभव को वह जितना निचोड़ सकता है, निचोड़ ले। लेकिन वह कैसे और क्या निचोड़ेगा सिवा इसके तटस्थ सचेतनता के साथ उन्हें झेलने की एक मानसिक तैयारी कर ले। यह मानसिक तैयारी मेरा ख़याल है, बहुत दूर तक परिस्थितियों को बदल देती है और आदमी के गौरव को उभारने लगती है।... आज जीवन की यह बुनियादी शर्त और मौलिक क्रिया है।" (*आलोचना*, नवांक-12) : तो एक तरह से वे बहुत से युवा कवियों के मन की बात कह रहे होते हैं। काव्यभाषा के इकहरेपन की जड़ कहीं यही है--इसी भोले आत्मविश्वास में कि जीवन को किसी तरह लस्टमपस्टम जी लेना ही मौलिक क्रिया है और साहित्य इस जीने की क्रिया को ज्यों का त्यों अंकित कर देना है। यहाँ इस सोच का कोई स्थान नहीं कि वह जीना आख़िर किस क़िस्म का जीना होगा, या कि यह विवेक कि जीना परिस्थितियों को सिर्फ़ झेल लेना नहीं है। सच्चाई यह है कि आज का सार्थक कवि-कर्म परिस्थितियों में से गुज़रकर अपने 'होने' का हिसाब-किताब रखना भर नहीं है, बल्कि उस 'होने' की दिशा को खोजना और पाना भी है। यह दिशा इसी समय में है।

'सरोज-स्मृति' और निराला

'सरोज-स्मृति'—दुःख की कविता है, पर इसमें व्यक्त दुःख का चेहरा हमारे अब तक से परिचित छायावादी दुःख के चेहरे से कितना भिन्न है! इस दुःख में अनुभूति के साथ वह ठोस भूमि भी अपने कच्चे-पक्के रंगों के साथ प्रकाशित है, जिसके भीतर से वह अनुभूति पैदा हुई है। अक्सर तो छायावादी कवि अनुभूति के क्षण में ही अनुभूति से परे कहीं और पहुँच जाता है। अनुभूति के साथ सीधी मुठभेड़ नहीं, अनुभूति का अतिक्रमण उसका स्वभाव है। जीवन और जगत और इनके आपसी संबंधों के बारे में उसके पास एक जीवन-दर्शन (या कि रहस्य-दर्शन) है, जिससे उसकी काव्यानुभूति नियंत्रित होती है। इस जीवन-दर्शन या रहस्य दर्शन के चलते ही छायावादी दुःख उपभोग्य, स्पृहणीय और काम्य दुख है—'तुममें पीड़ा को ढूँढ़ा तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा' एक रहस्यात्मक स्थिति से अधिक अनुभूति के प्रति छायावादी कवियों के दृष्टिकोंण की ही व्यंजना करती है।

छायावादी कवियों ने दुःख को बहुत सरस बना दिया है, क्योंकि दुःख उनके अस्तित्व को चुनौती नहीं देता था, उन्हें तोड़ता नहीं था, बस थोड़ा और मृदु, थोड़ा और कोमल, थोड़ा और भावप्रवण बना देता था। इसीलिए छायावादी कविता में दुःख का संगीत तो ज़रूर मिलता है, पर उस दुःख को भोगने वाले हाड़-माँस के मनुष्य की असली तस्वीर नहीं दिखाई देती। प्रसाद की 'आँसू' और महादेवी वर्मा के गीतों में तो दुःख अनुभूति से ऊपर उठकर एक सौन्दर्यात्मक मूल्य का दर्जा प्राप्त कर लेता है। पंत की स्थिति इन दोनों कवियों से थोड़ी भिन्न है। उनकी कविता में दुःख भोगने वाला हाड़-मांस का आदमी ही लगता है, उनका दुःख भी ज़्यादा स्थानीकृत है, सर्वदेशीय और सार्वकालिक उतना नहीं जितना कि प्रसाद और महादेवी का। पर पंत का दुःख न तो प्रसाद के दुःख की तरह बहुरागवैभवपूर्ण है, न महादेवी के दुःख की तरह तन्मय और सांद्र। इसका कारण यह है कि पंत का दुःख एक वयस्क मन का दुःख न होकर एक शिशु-मन अथवा किशोर-मन का अपिरपक्व दुःख है। जहाँ से पंत अपने मधुर-मधुर मन को पकने का उद्‌बोधन देना शुरू करते हैं, वहाँ से वे भी प्रसाद और महादेवी के व्यापक सर्वदिशीय सौन्दर्यात्मक दुःख के अमूर्त लोक

में चले जाते हैं। पर यहाँ भी प्रसाद और महादेवी तथा पंत के दुःख में फ़र्क़ है। प्रसाद और महादेवी के दुःख की व्यापकता और सार्वभौमता उनके वयस्क और परिपक्व व्यक्तित्व का आत्मप्रसार है, जबकि पंत का वह दुःख, जिस पर उन्होंने विश्वमानव की स्वर्णधूल और स्वर्णकिरण की पर्तें बिछाई हैं, मूलतः ओढ़ा हुआ, अतः महादेवी तथा प्रसाद की संपन्न दुःखानुभूति के सामने विरस और मस्तिष्कीय लगता है।

'सरोज-स्मृति' में पहली बार दुःख एक सौन्दर्यानुभूति के स्तर से अलग एक कठोर वास्तविकता के रूप में व्यक्त होता है और इस दुःख के बखान में कवि का कंठ किसी अंतःसंगीत से नहीं, बाह्य विषमताओं के बोध से फटा-फटा-सा हो गया है। यहाँ दुःख का उसके निपट नंगेपन में साक्षात्कार है, उसे भुलावा देने या मधुर-मधुर बनाने की चेष्टा नहीं।

इस दुःख का भोक्ता और उसे कविता में व्यक्त करनेवाला भी मूलतः कवि ही है। एक छायावादी कवि। पर इस कविता में कवि का होना सिर्फ़ इसलिए है कि वह एक मनुष्य (एक पिता) के दुःख को अधिक गहराई से, अधिक तीव्रता और उसके अस्तित्व को अनेक अर्थ-संगतियों के साथ महसूस कर सके। अभी तक की छायावादी कविता में हम यह देखते आए हैं कि दुःख की अपनी एक स्वनिर्भर दुनिया है। इस दुनिया में दुःख है और कवि है, इनके बीच दूसरा कुछ भी नहीं है, अतः दुःख और कवि एक-दूसरे को एक-दूसरे पर उड़ेल रहे हैं, उड़ा रहे हैं और उड़ रहे हैं (आकाश छूने के लिए), या एक-दूसरे के गले लग रहे हैं (एक दूसरे में खोने के लिए)। 'सरोज-स्मृति' दुःख को लेकर उड़ने या उसमें खोने के लिए नहीं, बल्कि दुःख को याद करने, उससे भीतर-ही-भीतर मर्माहत होने और बीच-बीच में बाहर कभी व्यंग्य-विद्रूप में तो कभी आत्मधिक्कार में चीख़ पड़ने के लिए है। यह चीख़ छायावादी दुःख की स्वनिर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख़ है।

कविता के आरंभ में निराला एक छायावादी कवि की मुद्रा ही अपनाते हैं। देखिए :

ऊनविंश पर जो प्रथम चरण
तेरा वह जीवन-सिन्धु तरण,
तनये, ली कर दृक् पात तरुण
जनक से जन्म की विदा अरुण
गीते मेरी, तज रूप-नाम
वर लिया अमर शाश्वत विराम
पूरे कर शुचितर सपर्याय
जीवन के अष्टादशाध्याय,
चढ़ मृत्यु तरणि पर तूर्ण चरण
कह—'पितः, पूर्ण-आलोक-वरण

करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,
सरोज का ज्योतिः शरण-तरण।

एक आत्मीय दुःख के प्रकृत और सहज बखान का आरंभ यह नहीं है। अनुभूति को एक भव्य रूपक में बाँधकर महाकाव्य की-सी ऊँचाई पर ले जाने की कोशिश है। एक उत्तापरहित, शांत, संयत ओज जो दुःख की अनुभूति नहीं, उससे एक सीढ़ी ऊपर सौन्दर्य भी नहीं, एकदम से जीवन-दर्शन की स्थिर सत्यता तक ले जाती है, जैसे कि यह महाकाव्य की प्रस्तावना हो। इस महाकाव्य के प्रथम दृश्य का रूपविधान बिलकुल सटीक है : सरोज के जीवन के अठारह वर्ष *गीता* के अठारह अध्याय हैं, जिन्हें पूरा करने के बाद साधारण मौत नहीं, 'अमर शाश्वत विराम' मिलता है। जीवन एक ऊर्ध्वमुख सागर है और मृत्यु नौका, जो उस जीवन के पार 'पूर्ण आलोक वरण' तक ले जाती है। इस बिम्ब रूपक से जुड़ा, बारीक रंग-रेखाओं से उकेरा गया, एक पार्थिव विदा का चित्र भी है। यह विदा एक क्षण में, एक निमिष में घटित होती है—जैसे डाल से पत्ते का बिना देखे-जाने टूटकर गिर जाना, एक दृष्टिपात की तरह तुरंत और अनायास। और विदा भी कैसी? एक तरुण की विदा, जो विदा के भाव को उस क्षणिकता के साथ मिल कर मार्मिक और ट्रेजिक बना देता है। जैसे संवेदना पर सुई-सी चोट पत्थर बनकर सर्वांग को हिला दे। इस ट्रेजिक विदा में जिसमें एक तरुण जन अपनी संभावनाओं को चरितार्थ किए बिना ही जीवन-सिन्धु तरण कर रहा है, एक महाकाव्य की उदात्त ऊँचाई है।

यहाँ निराला दुःख की अनुभूति से मुठभेड़ नहीं उसका अतिक्रमण करते हैं। पर वे ऐसा दुःख को सह्य बनाने के लिए करते हैं। इसे छायावादी कविता की विडंबना ही कह लीजिए कि दुःख को एक विराट अर्थवत्ता प्रदान करके ही उसे सह्य बनाया जा सकता था। इस चेष्टा के पीछे हमारे जातीय संस्कारों का ज़बर्दस्त चुंबक है जो एक औसत हिन्दुस्तानी को अनुभूति के निपट नंगे साक्षात्कार में कहीं-न-कहीं दार्शनिक बनाकर छोड़ता है। और हमारे छायावादी कवि एक औसत हिन्दुस्तानी से कुछ ज़्यादा ही हिन्दुस्तानी थे। असल में एक औसत हिन्दुस्तानी की यह दार्शनिकता छायावादी कवि के लिए एक 'आदर्श' का दर्ज़ा रखती है, जिस तक वह पहुँचना चाहता है—इस वाक्य को थोड़ा सुधारकर कहें—दार्शनिकता नहीं, बल्कि इस दार्शनिकता की कविता वह आदर्श है, जिस तक वह पहुँचना चाहता है।

इस 'आदर्श' को पा लेने में जीवन की कठोर वास्तविकता अव्वल तो एक रुकावट है, लेकिन अगर वह रुकावट बनती भी है तो उसका काम उस 'आदर्श' को पा लेने के लिए कवि में उदात्त भावनाओं को एक अतिरिक्त उछाल पैदा करना है। निराला में अन्य छायावादी कवियों के मुक़ाबले ये रुकावटें ज़्यादा हैं, पर उन्होंने उनका इस्तेमाल हमेशा अपने में वह अतिरिक्त भावनात्मक उछाल पैदा करने के लिए नहीं किया। 'सरोज-स्मृति' में तो वे आदर्श और यथार्थ के अनुभव स्तरों को साथ-साथ

एक घुमड़ते हुए तनाव की स्थिति में जीते हैं। बात यह है कि छायावादी कविता मानव-अनुभूति की तरफ़ बढ़ने में उससे खिंचते जाने की कविता है। छायावादी कवि प्रायः आदर्श और यथार्थ के बीच एक निश्चित दूरी बनाए रखता है, ताकि दोनों के बीच विकलता का भाव अक्षुण्ण बना रहे। विकलता की व्याख्या यह है 'कि जितना खींचता हूँ और खिंचता जाए है मुझसे।' इस खिंचाव की बनाए रखते हुए अनुभूति के यथार्थ के ज़्यादा से ज्यादा निकट पहुँची हुई छायावादी कविता निराला की यह 'सरोज-स्मृति' ही है। इस चेष्टा से इसमें तनाव की वह नाजुक संतुलन न सिर्फ़ ज़्यादा कस गया है, बल्कि कहीं-कहीं उसमें दरार भी पड़ गई है। यह दरार इस कविता में ही नहीं, निराला के रचनात्मक व्यक्तित्व में भी हमेशा के लिए पड़ गई है।

फ़िलहाल यहाँ 'सरोज-स्मृति' का यह पहला बंद निराला के उस 'आदर्श' को पा लेने की विकलता का क्षण है। पर निराला को इस शिखर से नीचे उतरना पड़ता है, क्योंकि एक महाकाव्य की-सी निर्वैयक्तिकता को लेकर एक संस्मरण के आत्मीय धरातल पर यात्रा नहीं की जा सकती। फिर भीतर का जो दबाव उन्हें ऊपर शिखर तक ले गया था, वही चट्टान पर टूटती एक पछाड़ की तरह उन्हें यथार्थ-बोध की इस ठंडी क्रूर भूमि पर ला पटकता है :

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका।
जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।

यह है कवि का यथार्थ, जिस पर आदर्श के ऊपर से झड़ती हुई सुनहली परत तक नहीं। आप देखेंगे कि आगे के बंदों में भी इस यथार्थ अन-उदात्त भूमि का ठंडापन पसरता चला गया है। सरोज के चपल बाल-जीवन की क्रियाओं के वर्णन में भी एक गीतात्मक उदासी का स्वर छुपाए नहीं छुपता। केवल दो प्रसंग ऐसे हैं, जहाँ कवि की ऊष्मा लौटती है, एक जहाँ वह सरोज के यौवनागम का चित्र खींचता है और दूसरा जहाँ वह विवाहोपरांत सुहागिन पुत्री की छवि में अपनी दिवंगत प्रिया की उपस्थिति का अनुभव करता है। सौन्दर्य और रस के ये दो प्रसंग एक शोक-तप्त मर्म की ऊदी पृष्ठभूमि में सतरंगी आभा-सी बिखेरते हुए लगते हैं, हालाँकि इन रंगों के ऊपर उदासी की एक परछाई धब्बे की तरह बैठी दिखाई देती है। पर इनके बारे में विशेष आगे। अभी तो यह यथार्थ का बड़ा-सा पत्थर, कवि के हृदय पर। इस पत्थर से कवि कभी खुद लहूलुहान होता है तो कभी इसे बाहर फेंककर अपने परिवेश को घायल करता है। पर भीतरी चोट कुछ ज़्यादा ही है। 'स्वार्थ-समर' में पग-पग हर हारने का बोध आत्मदया का भाव जगाता है, एक आहत अहं का; और इस

भाव में घिर कर पुत्री की स्मृति कुछ और निकट खिंच आती है, इतने निकट कि एक बिन्दु पर पुत्री 'जीवित कविते' बन जाती है। 'सरोज-स्मृति' में एक समानांतर कथा स्वयं कवि के अपने जीवन-संघर्षों को लेकर है। सिर्फ़ एक पिता के नहीं, एक कवि के अनुभव प्रवाह में आई हुई जीवन-स्थितियाँ और मनोदशाएँ, जिन्हें इस कविता में दुबारा जिया गया है। इसीलिए सरोज सिर्फ़ पुत्री नहीं, कवि की रचना-सामर्थ्य को ललकारनेवाला वह यथार्थ है, जिससे कवि लड़ा है और हारा है। सरोज कवि का सबसे बड़ा दर्द और मन में गड़ी हुई फाँस है, क्योंकि वह उसकी 'गद्य में पद्य में समाभ्यस्त' प्रतिभा की विवशता है।

'यह द्वंद्वात्मक संबंध, जिसमें पुत्री-पुत्री होने के अतिरिक्त भी कुछ और है और पिता-पिता होने के साथ एक कृतिकार भी, कविता में एक तनाव की तरह व्याप्त है। सरोज आदर्श भी है और यथार्थ भी। इनमें से कोई भी एक-दूसरे की सत्ता का प्रतिकार नहीं करते। इनमें आपस में टक्कर ज़रूर होती है, कुछ जीवंत रेशे टूटते भी हैं, पर ये हमेशा एक-दूसरे की आँखों में घूरते आमने-सामने खड़े रहते हैं। यह तनावपूर्ण संतुलन 'सरोज-स्मृति' की संरचना की मूल स्थिति है; पर चूँकि इस कविता का रूपाकार एक संस्मरण का है--घटित अनुभव को दुबारा जीने का है--इसलिए निराला उस तनाव को टूटने न देते हुए भी उसके संतुलन को लचीला बना सके हैं। सरोज के बचपन का फ़्लेशबैक और उससे लिपटे चले आए स्वयं कवि के पुनर्विवाह का प्रसंग, 'नरानंद संपादक-गण' की 'गुणग्राहकता' का बखान, जहाँ :

पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर।

का उदासी के रंग में रँगा व्यंग्य फूट पड़ता है, या फिर *'पद फटे बिवाई के उधार/खाये के मुख ज्यों; पिये तेल/चमरौंधे जूते से संकेल/निकले, जी लेते'* कान्यकुब्ज-कुल कुलांगारों का वर्णन-विशेष--ये सब उस तनाव की मूल शर्त अर्थात् आदर्श और यथार्थ की मुठभेड़ का खंडन नहीं करते, बल्कि कभी क्षोभ और कभी मुस्कान की लहरियाँ उत्पन्न कर उस तनाव के संवेदना-वृत्त को और विस्तृत कर देते हैं। तनाव का संदर्भ वैयक्तिक दुःखानुभूति के तीव्र बिन्दु तक ही सिमटा न रहकर परिवेश के विषम ताने-बाने की मूर्त सच्चाई तक फैल जाता है। कवि के लिए यह तभी संभव हो पाता है कि वह सिर्फ़ सरोज का ही स्मरण न करे अपना भी, या अपना ज़्यादा सरोज का कम, स्मरण करे। इस स्मरण में एक गीतिरचना की कसावट है और एक आख्यान का प्रसार। कवि का स्वर कभी तेज़ होता है कभी मद्धम पड़ता है और कभी अस्पष्ट बुदबुदाहट में बदल जाता है। भावावेश की नोक पर चढ़ी कवि-कल्पना कभी उदात्त को छूती हुई तरल और सूक्ष्म होती है, तो कभी ठेठ ज़मीन पर छोटे-से-छोटे ब्यौरों

तक के चित्रण में सटीक और ठोस; और कभी वस्तु और भाव के बीच ऐन्द्रिक संवेदन के अंकलन में थरथराती हुई, प्रहर्षित। एक स्मरण के भीतर कई स्मरण हैं, सरोज और अपना तो है ही, स्वर्गीया प्रिया का स्मरण भी इनमें कहीं-कहीं झाँक जाता है।

स्मरण के ये सभी स्तर उस तनाव का स्वरूप हैं, पर उस तनाव के अंश हैं, इसलिए उसके भीतर भी हैं। इस तरह 'सरोज-स्मृति' ऊपर से अपने रूपाकार में जो इतनी सरल दीखती है, वास्तव में एक अत्यंत संश्लिष्ट रचना है। इसका प्रवाह एक सीधी रेखा में न होकर वर्तुलाकार उतार-चढ़ाव का है। इसके काव्य-अनुभव में शुद्ध सौन्दर्य और उस सौन्दर्य के बाहर घटित अनुभव की निर्मम वास्तविकता तह-दर-तह एक दूसरे से रगड़ खाते, छिलते चले गए हैं। एक दूसरे पर अवलंबित, एक-दूसरे को पुष्ट करते हुए। एक-दूसरे से खिंचते, एक-दूसरे के पास आते हुए।

इस तरह 'सरोज-स्मृति' की छोटी-सी दुनिया में कवि के भीतर और बाहर की छोटी-बड़ी कई दुनियाएँ समाई हुई हैं। पर इन तमाम दुनियाओं से मिलकर बनी हुई 'सरोज-स्मृति' की दुनिया का केन्द्रीय चरित्र स्वयं इस कविता का कवि है—एक द्वंद्वात्मक स्थिति के केन्द्र में स्थित। यह चरित्र पूरी कविता में उसके आरंभ से अंत तक छाया हुआ है। एक ऐन्द्रजालिक की तरह यह चरित्र इन सभी दुनियाओं को अपने भीतर से निकालता है, पर उसकी मुख्य रचना है सरोज। सरोज मानो इन सभी दुनियाओं के लिए प्रवेश-द्वार है। इन दुनियाओं से सब नाते सरोज के कारण हैं। ननसाल और सासजी की दुनिया सरोज की बालक्रीड़ा के लिए है। साहित्यिक विफलता की टीस भी इसलिए है कि कवि सरोज के लिए 'उपार्जन को अक्षम' रहा। पुनर्विवाह के प्रसंग में सारे आयोजन को अस्त-व्यस्त करने वाली सरोज ही है—*'संकेत किया मैंने अखिन्न जिस ओर कुंडली छिन्न-भिन्न/देखने लगीं वे विस्मय भर/तू बैठी संचित टुकड़ों पर'*। अपने चारों ओर घिरते-कसते परिवेश के विरुद्ध कवि का जो आक्रोश अपने सजातीय कुलांगारों पर फटकार के रूप में बरसा है, उसका मूल भी सरोज ही है। फिर इन प्रत्यक्ष दुनियाओं के बाहर एक अप्रत्यक्ष दुनिया कवि की दिवंगता पत्नी की है और उसे भी सरोज ही 'मेरे बसंत की प्रथम गीति' के रूप में उजागर करती है।

अपनी इस मुख्य रचना सरोज के साथ कवि का 'व्यवहार' इस कविता की संरचना को काफ़ी दूर तक निर्धारित करता है। स्थूल रूप में यह 'व्यवहार' सरोज की वय से जुड़ा हुआ है—बालिका रूप, नवयुवती रूप और एक युवा सुहागिन पुत्री का रूप। पर वय के साथ बदलते इस 'व्यवहार' के पीछे कवि के आदर्श और यथार्थ के तनावपूर्ण संबंध की घिरती-मिटती छायाओं की अंतःसंगति भी है। सरोज का बचपन का रूप इस तनाव से मुक्त है, यह रूप सरल है; जिस पर एक पिता की ममता बरसती है, इस रूप की आयोजना में एक भीतरी मुक्ति है—वर्तमान यथार्थ

परिवेश की संघर्षयुत चेतना से मुक्ति—अतः उस बचपन के अंकन में एक सहज मोद है :

तू सवा साल की जब कोमल
पहचान रही ज्ञान में चपल
माँ का मुख, हो चुंबित क्षण-क्षण
भरती जीवन में नव जीवन।

यह काल की द्वंद्वात्मक चेतना से परे हँसते हुए बचपन का शाश्वत चित्र है। कवि का बनाया हुआ चित्र। सरोज में अभी अपनी खुद की कोई 'हरकत' नहीं है, वह कोई 'दूसरा' नहीं है, वह कवि में से निकली है और कवि की है। पर शीघ्र ही बचपन के इस संक्षिप्त फ़्लैशबैक में एक-एक कर वे दूसरी दुनियाएँ प्रवेश करने लगती हैं और कवि तथा सरोज के संबंध भी बदलने लगते हैं।

इस बदलाव का पहला संकेत वहाँ है, जहाँ एकाएक सरोज जवान होने लगती है :

नैश स्वप्न ज्यों तू मंद मंद
फूटी ऊषा जागरण छंद
काँपी भर निज आलोक भार
काँपा बन, काँप दिक् प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल।

यह जैसे कवि ने अपनी रचना में रंग भरा हो, उसे अलंकार पहराए हों। पर यहीं से उसे एक धीरे-धीरे आकार लेते व्यक्तित्व का अहसास भी होने लगा है :

तू खिंची दृष्टि में मेरी छवि
जागा उर में तेरा प्रिय कवि
उन्मनन-गुंज सज खिला कुंज
तरु पल्लव कलि-दल पुंज-पुंज
बह चली एक अज्ञात बात
चूमती केश—मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन।

यह रूप-छवि ऐसी है, जो पिता के पितृत्व को नहीं, कवि के कवित्व को उद्दीप्त करती है। कवि उन आँखों में अपनी ही छवि देखता है और उस छवि को अपनी कल्पना-सामर्थ्य से भर देता है, जो अभी तक कली में बंद एक कोमल भाव रहा उसे मूर्त रूपाकार देने लगता है। यह सारी रूप-सृष्टि उसकी है, उसकी की हुई है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट हो चला है कि वह अब उस सृष्टि का नियामक नहीं

रहा—'समझा मैं तेरा जीवन' की स्वीकृति अपने से अलग हो रहे एक स्वतंत्र जीवन की स्वीकृति है।

सरोज के साथ कवि को इस बदले हुए संबंध का यह सोचता-सा चित्र शीघ्र ही क्षुब्ध सागर के फेनिल शोर में डूब जाता है। यह सागर यथार्थ का है, उस वास्तविकता का जो कवि का परिवेश है। इस सागर की लहरों में (एक यथार्थ के भीतर यथार्थ की कई दुनियाएँ) पिता और पुत्री, कवि और उसकी रचना के संबंध डूबते-उतराते रहे हैं। डूबकर उतराने के बाद हर बार इनके बीच का संबंध थोड़ा बदल जाता है।

इस बदलाव की प्रक्रिया में जो यथार्थ-स्थितियाँ विक्षोभ पैदा करती हैं, उनका एक पक्ष यह है :

सोचा मन में हत बार-बार
ये कान्यकुब्ज-कुल-कुलांगार,
खा कर पत्तल में करें छेद
इनके कर कन्या अर्थ खेद
इस विषय-बेलि में विष ही फल
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल।

यह सिर्फ बाहर घटित होनेवाली अनुभूति नहीं है, बल्कि एक लंबे अरसे से कवि के भीतर घट रही थी, क्योंकि यह उस क्षुब्ध यथार्थ-सागर की एक लहर है, जो शुरू से ही कवि के भीतर गरज रहा था। कविता के आरंभ में ही जिस 'जीवन-सिन्धु' का उल्लेख हुआ है वह यही तो है—बार-बार कवि-मन के भीतर से फूटकर उछलकर बाहर आता हुआ और बाहर आने में भीतर का कुछ तोड़, कुछ मिटा जाता हुआ और फिर कुछ पीछे छोड़कर धीरे-धीरे वापस लौट जाता हुआ। जहाँ लहरें ऊपर चढ़ती है, वहाँ एक वेग है, भावनाओं का शोर, क्षोभ की गूँजती हुई तल्ख़ी। ऐसे में भाषा अनेक अर्थ-आवर्तों में पठारी वर्णनात्मकता है, प्रायः बिम्ब प्रतीक़ रहित निरलंकृत भाषा-प्रवाह—घटना-क्रम को कहकर हल्का हो लेने का भाव।

एक जगह जहाँ लहरों का शोर कुछ पीछे छूट गया है, यह चित्र उभरता है :

देखती मुझे तू हँसी मंद
होंठों में बिजली फँसी स्पंद
उर में भर झूली छवि सुंदर
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर
तू खुली एक उच्छ्वास-संग,
विश्वास-स्तब्ध बंध अंग-अंग
नत नयनों से आलोक उतर
काँपा अधरों पर थर-थर-थर।

सरोज का यह विवाह के तुरंत बाद का चित्र है। रचना कवि से अलग एक

पूर्ण स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त कर चुकी है और इन पँक्तियों में पहली बार कवि उस रचना को बराबरी के स्तर पर देखता है। या शायद रचना ही पहली बार उन्मुक्त दृष्टि से अपने स्रष्टा को देखती है। पहले कवि सरोज की आँखों में अपनी ही छवि देखता था, अब उन आँखों में उससे अलग एक नया संसार रच गया है। इस संसार के रचे जाने तक कवि उसके साथ-साथ रहा है, पर अब वह वहाँ नहीं है। पहली बार उसकी रचना 'हरकत' कर रही है—होंठों में फँसी बिजली लिए मंद हँसी... सरोज का एक उच्छ्वास के साथ धीरे-धीरे खुलना...और इस खुलने में बंधे हुए अंगों का संभ्रम में ठिठक पड़ना...झुकी आँखों से काँपते अधरों पर एक भीतरी आलोक का थरथराते हुए उतरना—ये सारे कोमल संकेत एक सौन्दर्य के क्रमशः पूर्ण प्रस्फुटित होने के हैं। यह सौन्दर्य पहले के सौन्दर्य की तरह स्थिर चित्रलिखित नहीं है, बल्कि इसमें एक गीत है, एक आंतरिक उमगन, एक खुलाव, एक वयस्क ऐन्द्रिक स्पर्श। कवि अपनी रचना को एक नई संबंध-भूमि पर देखता है :

देखा मैंने वह मूर्ति धीति
मेरे बसंत की प्रथम गीति
शृंगार रहा जो निराकार
रस कविता में उच्छ्वसित-धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया संग—
भरता प्राणों में राग-रंग,
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदलकर बना मही।

यथार्थ यह है कि सरोज एक मातृविहीन पुत्री है, जिस पर पिता की ममता बरसती है, और आदर्श यह कि सरोज एक रचना है, स्वतंत्र, रूपवैभवपूर्ण और संभावना के एक नए द्वार पर खड़ी हुई। इस स्थल पर यथार्थ और आदर्श दोनों की परिधियाँ एक-दूसरे के अत्यंत निकट हैं, एक-दूसरे को लगभग छूती हुई-सी। कवि इस नई संबंध-भूमि पर इन्हें एक साथ तीव्रता से महसूस करता है। इसीलिए उसका स्वर सधा हुआ है, उसमें एक बारीक शिल्प-संयम और संतुलन है, बहुत कुछ को थोड़े में व्यक्त करने का शब्द-लाघव; और अब एक ऐसी निस्संगता जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों ही रचनात्मकता के एक तीसरे स्तर पर संक्रमित हो जाते। तभी पुत्री होकर भी रचना ही रहती है ('मेरे बसंत की प्रथम गीति') और रचना रचना होकर भी अंततः पुत्री ही रह जाती है ('आकाश बदल कर बना मही')।

सरोज की इस नई मूर्ति में—जो एक ओर धैर्य की प्रतिमा है और दूसरी ओर प्राणों में राग-रंग भरनेवाला रति-रूप—एक नई पहचान, एक नई आत्मीयता जुड़ती है 'स्वर्गीया प्रिया' के ध्यान से। ग़ौर कीजिए, कवि को सरोज के वयक्रम से तीनों ही रूपों—बालिका, नवयुवती, सद्यःपरिणीता—के चित्रण में अपनी स्वर्गीया प्रिया का

ध्यान बार-बार आता है। सरोज का स्मरण एक तरह से प्रिया का भी स्मरण है। सरोज जैसे नए सिरे से कवि और उसकी प्रिया को एक-दूसरे के निकट लाती है—उस 'अनुपस्थित' प्रिया को 'उपस्थित' बनाती है। जो है, वह जो नहीं है; उसकी याद ताज़ा कर जाता है। यह प्रिया भी अपनी रची गयी 'उपस्थिति' द्वारा स्वयं सरोज को भी कवि के लिए अधिक 'उपस्थित', अधिक तात्कालिक, अधिक अनुभूत बनाती है। वह सरोज को कवि के साक्षात्कार के लिए संभव बनाती है।

पर यह संपूर्ण हुई रचना इस साक्षात्कार के क्षण में ही कवि से छिन जाती है। जो है वह भी जो नहीं है, उसमें मिल जाता है। सरोज को खोकर जैसे कवि अपनी प्रिया को दुबारा खो देता है, उस प्रिया को जो उसके साथ इस सरोज में थी—उस सौन्दर्य और रस में, जिसे दोनों ने मिलकर साथ-साथ रचा था एक संभावना में। एक के खोने में यह दो का खोना—एक पूरे रचना-संसार का खोना—कुछ इतना बड़ा है कि भावनाओं के ज्वार की नोक पर नहीं झेला जा सकता। इसके लिए चाहिए एक ठंडा पठार। कोई ताज्जुब नहीं कि सरोज की मृत्यु की सूचना बड़े सादे, लगभग निरावेग ढंग से दे दी गई है। थोड़ी देर पहले सरोज के उस रचनात्मक रूपोत्कर्ष के क्षण में ही भीतर-भीतर जो एक चुपचुप उदासी रिस रही थी, वह क्या इसी भावावेग के उतार की पूर्वसूचना थी?

लेकिन भावना के ज्वार-बिन्दु पर एक बार कवि फिर लौटता है। यह ज्वार कैसा है? यथार्थ और आदर्श के बीच किसी ढीले पड़ गए संतुलन को कसता हुआ नहीं, बल्कि उनके रहे-सहे ताने-बाने को भी तोड़ देता हुआ। जो तनाव अपने तमाम उतार-चढ़ावों के बावजूद शुरू से अब तक चला आ रहा था, वह टूट जाता है। सरोज की मृत्यु के साथ वे तमाम दुनियाएँ जो सरोज की वजह से थीं, तिरोहित हो जाती हैं, उनके तमाम छोटे-बड़े ब्यौरे और उनके तमाम रंग-विरंगे अच्छे-बुरे चेहरे खो जाते हैं और जीवन के यथार्थ का यह क्रूर, भयानक और बिना चेहरेवाला चेहरा उभर आता है :

हो इसी कर्म पर वज्रपात
यदि धर्म, रहे नत सदा माथ
इस पथ पर मेरे कार्य सकल
हो भ्रष्ट शीत के-से शतदल।

इस अनुभूति को किसी भी रचनात्मक तर्क से नहीं समझा जा सकता। यह एक कवि की नहीं, एक पिता के भीतर से फट पड़ती हुई चीख़ है। इस चीख़ का यथार्थ कवि के बावजूद भी है, सत्य की तरह नंगा और ठिठुरता, जैसी कि सरोज की अकाल और अकारण मृत्यु। अनुभूति के इस विस्फोट को देखकर ऐसा लगता है कि सरोज का अंत महज एक रचना का अंत नहीं था, सरोज कवि के लिए सिर्फ़ एक रचना नहीं थी, वह इससे कुछ बढ़कर थी। वह शायद कवि के लिए वह जीवन

थी, जिसमें रचना संभव होती है।

कवि-कर्म की ट्रेजिडि यह है कि इस जीवन के बाहर भी अंत नहीं है, शून्य नहीं है, है जीवन के केन्द्र में वापस लौटने की दुर्दमनीय इच्छा। इसीलिए 'सरोज-स्मृति' का अंत जीवन के बाहर एक शून्य, एक तर्पण—भावनाओं की कैथारसिस—में नहीं होता कविता की अंतिम दो पंक्तियाँ लगभग फ़ालतू-सी लगती है, क्योंकि हम जानते हैं कि अभी-अभी जो विस्फोट कवि की अनुभूति में हुआ है और उससे जो गहरी दरार उसके भावयंत्र में पड़ गई है, उसके रहते कोई कैथारसिस नहीं हो सकता। जहाँ कविता ख़त्म होती है, वहाँ यथार्थ का नंगा और क्रूर पर मानवीय चेहरा अब भी सामने खड़ा है। यह यथार्थ ही इस कविता के बाद—हर एक कविता के बाद—दूसरी कविता को संभव बनाएगा, कवि के कटे-फटे भावयंत्र के बावजूद।

(*कविता से साक्षात्कार* से)

लगना

रोज़-रोज़ हाज़िरी के रजिस्टर पर
दस्तख़त करते डर लगता है
खुद को दीवार के आईने में
इकाई चेहरे को दहाई चेहरों में
एक अलग नाम के साथ चिपकाते
डर लगता है

डायरी पर दिन की तारीख़ डाल
हत्या आगज़नी व्यभिचार की नींद सोते
डर लगता है

घटनाओं की तड़ी खाकर
महसूस करना शरीर से जुड़ी दो बाँहें, दिल, दिमाग़, गुर्दा
लपककर आततायी गर्दन पकड़ने में
पाँवों की मोच से
डर लगता है

ईमानदारी के सिफ़ारिशी पत्र पर
अपने युग की मोहर लगवा
पाई है मैंने कविता करने की नौकरी
नौकरी की इस ईमानदारी से
डर लगता है।

(ज़ख़्म पर धूल से)

माँ

माँ न बोलती हैं न सुनती हैं
दरवाज़े बंद
भीतर नसों के जाल में झनझनाती चुप्पी
बाहर एक चमक में लिख जाती है
सूखी ज़मीन
माँ रोती नहीं

हर तरफ़ गुपचुप पगुराते ओठ हैं और चौखट पर
दूर से ही पाँवों की फिसलन सुनाई पड़ती है
कोई शब्द कहीं फिसल पड़ा है
माँ उसे उठाकर शब्द के पास ही रख देती हैं ज्यों का त्यों
फिर हमारे पास आकर बैठ जाती है
माँ खोती भी नहीं
अपनी याददाश्त हमारे चेहरों की
हाँ, आँखें उनकी खो चुकी हैं वह जो सिर्फ़ हमारा होकर
रह गया है
माँ ने उसे नहीं सृजा

तपिश
और उसमें से फूटती जलती ज़मीन की
साँस।

(अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ से)

बिना चेहरोंवाली गली

अँधेरा यहाँ आकर ठिठक गया था। पतली-सी गलियारेनुमा सड़क एक अकथ्य बोझ के नीचे दबी पड़ी थी। मकानों की खिड़कियाँ खुली थीं, पर उनमें रोशनी नहीं थी। बारजे, छतें और खपड़ैलें चुप...बिजली का खँभा चुप...हवा चुप। एक छोर पर, दूर नीम के पेड़ की पत्तियाँ अँधेरे में स्थिर परछाइयों की जाली बुन रही थीं और उन्हें देखनेवाला कोई न था। उस नुक्कड़वाले मकान के बारजे पर गमले में बेला खिल रहा था और अपनी गंध नीचे फेंक रहा था...उस फूटी लोनाखाई दीवाल में एक घोंसला था और ख़ाली था...।

और मैं, जिसने सबकी व्यथा जी थी; एक तंग कोठरी में अकेला था। मुझसे किसी ने नहीं कहा था। सच, किसी ने नहीं, कि हज़रत! उन तमाम स्थितियों और दृष्टियों में से गुज़र जाइए और चूँकि आप कवि हैं, इसलिए सारी दुनिया का बेशुमार रंजोग़म अपने दिलोदिमाग़ में भर लीजिए। पर इतने से क्या होता? मैं गया था। और जाने के पहले मैंने कहा था (मुट्ठी में जैसे कुछ कसके बाँधकर) कि मैं जाऊँगा। और इस निश्चय के साथ ही (आश्चर्य!) जैसे मैं कुछ ऊपर उठ गया था। मेरी छाती के भीतर मेरी साँस कुछ बड़ी हो गई थी और मेरी आँखों में नक्षत्र चमक उठे थे। मेरे क़दम दृढ़ थे और मेरी आवाज साफ़ थी, और मेरे पीछे धुँध नहीं थी और मेरे आगे दिन एक चुनौती-भरे पथ की तरह बिछ गया था...और मैं गया था।

पर मैं कहाँ गया था? वे सारी स्थितियाँ और दृष्टियाँ तो जैसे मेरे ही भीतर से जन्मी थीं और मेरे चारों ओर छा गई थीं और मैं खंड-खंड होकर इनमें बिखर गया था।

लेकिन नहीं, इस तरह तो मैं एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सकूँगा। नहीं, मुझे अपने आपको व्याख्यायित करना ही होगा। नहीं...आसमान दोनों हाथ से ढेर धूप फेंकता हुआ इस गली के ऊपर से गुज़र गया है। उसके चेहरे पर अब झुर्रियाँ हैं और गली के घरों से निकलता हुआ काला धुआँ उसको गहरा और गहरा बनाता जा रहा है। दिन में एक लथपथ आहट थी, वह समय के इस मोड़ पर धीमी हो गई है। सड़क से एक धीमी-धीमी आँच-सी निकल रही है, जिसमें गली का जीवन,

गली का मन पक रहा है।...फिर रात।

पर इसके पहले कि रात हो और गहरी हो और सारे चेहरे पोंछ दे, गली के जीवन में कई चीज़ें घटित होती हैं। बनारसी ने बाल्टी में भर-भरकर सड़क काफ़ी दूर तक सींच दी है और उसके किनारे नाली के ऊपर अपनी बंसखट डाल दी है। बहादुरसिंह अपना चबूतरा साफ़ कर चुके, अब उन्होंने उस पर सात जन्म की कीचट दरी बिछा दी है और झूम-झूमकर राधेश्याम रामायण बाँच रहे हैं मुरारी पानवाला अपनी दुकान सजा रहा है। मदन पंडित सिर पर बनारसी साफ़ा बाँधकर और चाँदी के मूँठवाली छड़ी लेकर सत्तनरायन की कथा कहने के बहाने रमणियों का मन-रंजन करने निकल पड़े हैं। चंद्रकिशोर वर्मा खैराती अस्पताल में कंपाउंडर हैं, अब ड्यूटी से लौटकर अस्पताल से चुराई हुई दवा की गोलियाँ जेब से निकालकर शीशियों में रख रहा है। चौरस्ते के पासवाले मैदान में गायें दुही जा रही हैं और दफ़्तर के बाबू लोग लुंगी लगाए अपनी-अपनी पारी के इंतज़ार में खड़े मन-ही-मन कुढ़ रहे हैं। और बेनी ग्वाला इस ताक में है कि कब दाँव लगे और कब गाय के असली दूध में डेरी फ़ार्म का मक्खनिया दूध मिला दे। पड़ौसी पहाड़न की पाँच जवान क्वांरी बेटियाँ रोज की तरह शीशा-कंघा लेकर श्रृंगार करने बैठ गई हैं। मुंशी नवरंगी लाल चुंगीघर से लौटकर लंगोट पहने नंग-धड़ंग ननकू पहलवान से तेल-मालिश करवा रहे हैं। बग़लवाले कमरे में तीन बार लगातार हाईस्कूल में फ़ेल हुआ छात्र तीसरे पहर से ही किताबों के ढेर पर झुका हुआ है। उसके ठीक सामने मकान में रहनेवाली बत्तीस वर्षीय मिस रसिकप्रिया मोटे फ्रेम के काले चश्मे के नीचे अपनी भेंगी आँख छिपाती बारजे पर खड़ी है और छात्र के कमरे की ओर एकटक देख रही है...।

...और नीम की पत्तियाँ, भूरी-पीली, ख़ामोशी के साथ टूट-टूटकर झर रही हैं, सड़क पर और खपड़ैलों पर बिछती जा रही हैं...और बेले में नई-नई कोंपलें फूटने लगी हैं...।

...और एकांत कमरे में, जिसमें सिर्फ़ एक खिड़की है, दो आँखें इन्हें देख रही हैं। देख रही हैं कि गली के कंधों पर टिका आसमान उन पर झुका आ रहा है। एक भूरी रोशनी है, जिसकी तरलता में असंख्य मछलियाँ तैर रही हैं, बल्कि एक गिरोह में बँधी-बँधी एक दिशा की तरफ़ तेज़ी से भागी जा रही हैं...आँखें उनका पीछा करती हैं, पर मछलियाँ सेवारों में अटकती-उलझती भागी जा रही हैं...और जब तक आँखें उन्हें पकड़ पाएँ, वे स्थिर-जड़ तारिकाएँ बनकर आसमान में फैल-छितर चुकी होती है...रात।

रात का गहरा-गहरा नीला रंग, जो देखने में काला-सा लगता है। और गली के उठे हुए मकान और उस नीम की पंजरी-पंजरी टहनियाँ अपनी मुट्ठी-भर कमज़ोर पत्तियों के साथ जिसमें स्टेन्सिल की तरह चिपकी हुई लगती हैं। बिजली का खंभा रोशन है और रोशनी की एक मोटी धार उसके पीछे की लोनाखाई दीवाल पर गिर

रही है...दीवाल के घोंसले में पँखों की फटफंटाहट शून्य में तिर रही है...एक थिराव है, जैसे रात ने एक नदी की तरह सारी आवाज़ों को अपने भीतर घुला-मिला लिया है और समय के किनारों को छूती हुई शांत बहती जा रही है...।

पर यह मेरी दृष्टि का ग़लत कोण है, मेरे मन का एक मिथ्या बिन्दु, जहाँ रात है, नदी है और एकांत चुप। अतः मैं अपने को अपने से, उस दृष्टि के लगते कोण से दूर फेंक देता हूँ, और सुनता हूँ एक कुहराम, जो गली में गूँज रहा है और जिन्हें केवल दीवारें सुन रही हैं...।

बनारसी ताड़ी पीकर लौटा है और अपनी बीवी को पीट रहा है और वह उसके सात पुरखों को तार रही है। स्फूर्ति दोनों में से किसी ओर भी नहीं। बनारसी के हाथ मशीन के पुर्जे की तरह ऊपर उठते हैं और उतनी ही यांत्रिकता के साथ गिरते हे। उसकी वीवी चीख़ती है, पर उसमें कोई आवाज नहीं, सिर्फ़ एक फँसी हुई रिरियाहट है। और दोनों किसी वहुत पुराने नाटक के दो घिसे हुए पात्र-जैसे लग रहे हैं, जो अपना पार्ट दुहराते-दुहराते काठ हो चुके हैं। उनके इस दैनंदिन नाटक का दर्शक कोई नहीं। चंद्रकिशोर कंपाउंडर अपनी कोठरी में लेटा मुस्करा रहा है। बनारसी की बीवी की चीख़ की कमन्द पकड़कर वह झट-से स्मृति के कंगूरे पर चढ़ जाता है जहाँ पिघली हुई रंगीन शाम की झिल-मिली के नीचे सलमे-सितारों-जड़ी करीमन, वहीदन, कमला, छबीली वग़ैरह उसका इंतज़ार कर रही हैं। गली के भीतर गली, अँधेरे के भीतर अँधेरा, और अँधेरे की सीढ़ियों पर खड़ी करीमन, वहीदन, कमला, छबीली...दुखती हुई देहें, जिन पर ख़ूंख़्वार पँजों के निशान जलते हैं, और लालसा पर नक़ली रोगन चढ़ता है और मुस्कराती हुई आँखें और फड़कती हुई भुजाएँ और थिरकता हुआ बिकाऊ जिस्म सब मिलकर एक कंटकित जंगल वनाते हैं, जिसमें दरिन्दे दहाड़ते हैं।...और जब गली का अँधेरा ऊँघने लगता है और शोख़ कहकहों के अनार फूटकर बुझ चुके होते हैं, रोगन उड़ जाते हैं, तितली के बनावटी पंख झड़ जाते हैं, तब उनकी नंगी देहें नशे से बोझिल रात के सैलाब में टीसते हुए टापुओं की तरह उभर आती हैं...और वे कंपाउंडर चंद्रकिशोर वर्मा का इंतज़ार करती हैं, और फीकी रोशनियों के नीचे सीढ़ियों पर चंद्रकिशोर वर्मा की चुराई हुई गोलियों की क़तार उन टीसती देहों और रात के सैलाब के बीच एक पुल की तरह बिछती जाती है और चंद्रकिशोर·वर्मा अपनी घनी मूँछों में एक बहशी मुस्कान छिपाए भारी क़दमों से धप-धप करता उस पुल को पार कर जाता है...।

खयालों में डूबा चंद्रकिशोर वर्मा लेटा मुस्कराता रहता है।

...गली में लौटते हुए क़दमों की आहट। दीवारों पर बनती-मिटती परछाइयाँ। परछाइयों के संकेत, इशारे, भंगिमाएँ। मुरारी पानवाले की परछाईं बिरहे के आलाप की तरह काँपती है और उनमें जमुनापार के एक गाँव से भगाई हुई औरत के नए ख़रीदे पायलों की गमक है।...मदन पंडित की रसीली आवाज़ एक दूसरी परछाईं

का पीछा करती हुई एक कोने में ठिठक जाती है, और दबी फुसफुसाहटों में बुनी हुई अनेक परछाइयों की मांसल गोलाइयाँ गली की स्तब्ध फ़िज़ा में तैर जाती हैं...।

तभी बारजे पर मिस रसिकप्रिया आकर खड़ी होती हैं। अँगुलियों में बेला का एक पूर्ण विकसित फूल। इधर-उधर सतर्कता से देखती हैं, फिर वह फूल सामने कमरे में किताबों के ढेर पर ऊँघते छात्र के पास फेंक देती हैं। छात्र चौंककर जग जाता है। पहले फूल और तब दीवाल में टँगी बजरंगबली की तस्वीर की ओर देखता है और फिर ऊँघने लगता है..।

इतने में एक आवाज़ गूँज उठती है। पहाड़न की पाँच बेटियों में से मँझली फ़िल्मी गाना गा रही है। आवेग में गुँथी हुई एक आवाज़ है, जो रोज़-रोज़ घिसती जाती है। आवाज़ और आवाज़ की सीढ़ियाँ, अनगिनती सीढ़ियाँ—आकाश में ऊँची और ऊँची उठती हुई और उन पर चढ़ती-हाँफती मँझली...।

दृश्य एक-दूसरे को काटते चलते हैं...कटी हुई रेखाएँ नागिनों की तरह रात के सीने से चिपकी मुंडेरों से झूलने लगती हैं...गली में सड़क पर उतारी हुई केंचुलों का अंबार लगता जाता है...तिरस्कृत अर्थ और जलती हुई मौन समाधियाँ...मृत लोगों ने अपने असली चेहरे कहीं छिपाकर रख दिए हैं सब एक-दूसरे की आँख बचाकर आते हैं और सड़क पर पड़े तिरस्कृत केंचुल पहन लेते हैं...।

...जिस दीवाल में चिड़िया ने घोंसला बनाया था वह अभिशप्त है।...हर साल एक साँप उसके अंडों को खा जाता था...उस साँप की चमकती हुई आँखें दृश्यों के कुहराम से अचानक उठती हैं।...मैं साफ़ देखता हूँ...और धीरे-धीरे सरकती हुई, नीचे उतरकर चबूतरे के पास आती हैं, चबूतरे की दहलीज के पार...और जब वे एक स्थान पर जड़ हो चुकी होती हैं, तब मेरी दृष्टि धुँधला जाती है, पर इस धुँधलाने के पहले एक चमक के साथ मैं पहचान जाता हूँ...।

और आँखों के आगे बहादुरसिंह के बड़े भाई जालिमसिंह एक किंवदंती का नायक बनकर हवा पर एक बड़े-से छाले की तरह उभर आते हैं...उस छाले के भीतर दूसरे महासमर की गलित संस्कृति का विष भरा हुआ है, जिसे जालिमसिंह वर्मा के फ्रंट से लाए थे...दमघोंटू धुएँ की पर्तों में पनपनेवाली क्रूरता, पाशविकता, कुत्सा के कीड़े—जिसे वर्षों तक चबूतरे पर दीवाल के साये में बेबाक ठठाकों और गंदे मज़ाक़ों और सनसनीखेज वृत्तांतों, संस्मरणों के माध्यम से गली के इस छोर से उस छोर तक फैलाते रहे...और गली के जीवन-प्रवाह में वे कीड़े पलते रहे...और उन वर्षों में गली में खुले आम मारपीट, फ़ौजदारी, अपहरण, गर्भपात और आत्महत्या की कई घटनाएँ हुई थीं...महासमर की उस संस्कृति के अवशेष रूप वह लोनाखाई दीवार...एक जर्जर विषाक्त परंपरा...जिसे तुड़वाने का निश्चय बहादुरसिंह कई बार कर चुके हैं, पर इस निश्चय के आगे और कुछ नहीं, बस एक सात जनम की कीचट दरी और राधेश्याम की रामायण...और कोई चिड़िया अब उस दीवार पन अपना घोंसला नहीं बनाती...।

...एकाएक मुझे ऐसा लगता है जैसे मेरे छोटे-से कमरे की परिधि बढ़ गई है, आयतन चौड़ा हो गया है, दीवारें फैल गई हैं और सारी गली दृश्यों के एक छोटे-से गुलदस्ते की तरह उसके विस्तार में समा गई है, उसके सारे पात्र कठपुतलों की तरह कमरे की छूछी आलमारी के एक-एक खाने पर बैठ गए हैं...और मेरी ओर स्थिर अपलक दृष्टि से देख रहे हैं...गली की छायाएँ सिमट आई हैं और कमरे की छत पर हौले-हौले थिरक रही हैं...नीम की डालें और बेला की कलियाँ खिड़की से भीतर घुस आई हैं और हिल-हिलकर संकेत कर रही हैं...और गली की आवाज़ें एक पूँजीभूत मौन बनकर मेरी मुट्ठियों में समा गई हैं...।

मौन। और मौन को मुट्ठी में पकड़े हुए मैं।

उस मौन से ही गली को नवरूपाकार मिलेगा। और मौन के कोई चेहरा नहीं होता—मौन अनउगा बीज है समय की पर्तों में। संभावना-सा सपाट। और अज्ञेय।

मेरी काँपती हुई, टूटती-बिखरती हुई अँगुलियों के अधूरे संकल्प और मेरे भीतर तड़पती हुई एक बिना चेहरोंवाली गली...।

(हँसते हुए मेरा अकेलापन)

डायरी

9 दिसंबर, 78

जो कुछ लिखता हूँ वह सबका सब रचना नहीं होती। ये पृष्ठ तो और भी नहीं। जितना कुछ मैं भोगता हूँ उस सबमें रचना के बीज नहीं होते। उस भोगे हुए अनुभव का कोई वंश आगे—रचना में—नहीं चलता। जो आगे चले और मुझे भी साथ आगे ले चले—चाहे एक संभावना में—वही रचना है। शेष सिर्फ़ दस्तावेज़।

लेकिन यह दस्तावेज़ भी ज़रूरी है। दस्तावेज़ रचना का कच्चा माल है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, दस्तावेज़ : मेरे जीवन का भोग-अनुभव : रचना रूपी करेंसी को वास्तविक मूल्य प्रदान करनेवाला मूलधन है। वह मिट्टी है जिसके बिना न बीज की सत्ता है न बीज अपने को चरितार्थ कर सकता है। रचना में छिपा हुआ भविष्य मिट्टी के अतीत में सुगबुगाता है।...

जंगले से आती हुई धूप—मेरे बदन पर आड़ी तिरछी लकीरें बनाती हुई धूप—और मेरे बालों से खेलती हुई तीसरे पहर की हवा, शीतल और स्वच्छ, इनकी कोई राजनीति नहीं है।

18 मई, 79

शादी के दस वर्ष।

इस मौक़े पर आत्मचिन्तन के विचार से ही ख़ौफ़ होता है।

आज शाम मुझसे रुपए माँगकर ख़रीदी गई एक क़लम मुझे भेंट की जाएगी। ये रुपए सरकार द्वारा बढ़ाए गए महँगाई भत्ते की पिछली क़िस्तों के बकाया राशि के परसों मिल जाने से मुहैया हो गए हैं। अगर ये रुपए न मिलते तो?

सुबह अस्मिता को स्कूल के लिए तैयार करते समय स. ने स्वर को एक गाने जैसा मोड़ देकर कहा—दस वर्षों की कमाई दो बच्चे।

शायद, बच्चों के अलावा एक-दूसरे के लिए हमारे पास कुछ नहीं बचा है।

उसे एक बेहतर पति चाहिए था—यह उसकी यथार्थवादी माँग है।

और मैं?

मैं अपनी इच्छा—मुझमें अपनी इच्छा के चेहरे को आँख उठाकर देखने तक की हिम्मत नहीं।

तब—कहाँ है वह 'न्यूनतम कार्यक्रम' जहाँ पैर टेककर मैं अपनी गृहस्थी की नाव पर सवार हो सकूँ और उसे ज़िन्दगी के सागर में खे सकूँ?—वे साँसें कहाँ हैं जो उस नाव के पालों में हवा भर सकें?

यह दर्द क्यों है? क्या इसलिए कि जो मेरे साथ हुआ उसकी नियति को मैं अभी भी पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सका हूँ? क्या इसलिए कि जो कुछ हुआ उसके न होने में मैं अपना ज़रूरी कर्म नहीं कर पाया? मैं अपने जीवन के एक अत्यंत नाजुक क्षण में उसका निर्णायक न रहकर महज द्रष्टा बना रह गया—अपने को नष्ट होने देने की प्रक्रिया का द्रष्टा?

क्या यही मेरी नियति, मेरी डेस्टिनी थी? और क्या मैं इसे बदल नहीं सकता था?

मेरे साथ बहुत बुनियादी रूप से—अस्तित्व के गहनतम धरातल पर—कुछ ग़लत घटित हो गया है और मैं उस ग़लत को सही नहीं बना सकता, न उसे दरगुज़र कर सकता हूँ, हाँ गाहे-ब-गाहे अपनी आँखों में धूप ज़रूर झोंक सकता हूँ।

इस क्षण के गुज़र जाने के बाद आनेवाला कल—कई कलों का कल—मुझसे इस क्षर का 'तथ्य' माँगेगा, तथ्य के ब्यौरे की डिटेल माँगेगा, इस क्षण का दृश्यपट,...पर मैं उस 'तथ्य' को अंकित करने की स्फूर्ति नहीं महसूस करता। वह हमड्रम है। वह चाक़ू जैसा तेज़ है और उस पर ताज़े ख़ून के निशान हैं।

तथ्य के ख़ून के निशान जब सूखकर ज़र्द पड़ जाएँगे तब, तब मैं ख़ून के बारे में लिखूँगा।

कभी-कभी सोचता हूँ, क्या मेरे अंदर ही कोई Tragic flaw है?

संवेदनशीलता खुद एक Tragic flaw है। जो इससे बचे हुए हैं, वे सुखी हैं और यह सुख उस विदूषक का सुख है, जो आईने में अपना चेहरा देखता है सर्कस में उतरने के पहले।

27 सितंबर, 79

दफ़्तर में—दूसरों की उपस्थिति में—लिखना एक अभिनय कर्म है, जैसे तेज़ आर्क लाइट्स वाले स्टूडियो में आप हों और दूसरों की उपस्थिति को नज़र-अंदाज करते हुए क्षण दो क्षण में कुछ कर दिखाएँ। साधना एकांत चाहती हैं, यहाँ सिर्फ़ अभिनय ही चल सकता है।

इस अर्थ में दफ़्तर और घर में फ़र्क़ क्या है? कुछ ख़ास नहीं। सृजन उस

क्षण का मोहताज होकर रह गया, जिसे घरेलू भीड़-भाड़ में ज़बर्दस्ती किसी तरह दबोच लेना है।

लिखना अपने को महसूस करना, अपने को छूना, अपने साथ रहना भी है अपने को अन्वेषित करना, आत्मपरीक्षण, आत्मचर्चा, क्या इसे आम लोगों से ठसाठस भरे हाल में या चौराहे पर या बस में कर सकते हैं? हाँ, पर किन्हीं विरले क्षणों में ही। बाक़ी समय सिर्फ़ प्रतीक्षा, सिर्फ़ प्रतीक्षा।

दफ़्तर में मेरे पास प्रतीक्षा का ज़्यादा अवकाश है दूसरों की उपस्थिति के बावजूद।

अपने स्वभाव की 'मौनता' अंतर्मुखीपन के कारण मैंने बाहर की सनसनी को काफ़ी प्रतिरोध दिया है। मेल मुलाक़ात से भरसक दूर रहकर मैंने एक महानगरीय भगदड़ को अपने ऊपर हावी होने से बचाया है। शोर से बचकर मैंने अपने एकांत की ढहती दीवारों को अब तक गिरने से रोक रखा है।

मैं जानता हूँ कि शोर में अपने को न डालना एक तरह से असुरक्षित होना भी है। क्योंकि शोर की मुखरता से तो आप बच सकते हैं पर शोर को रिस-रिसकर शिराओं में मिल जाने से नहीं, शोर की प्रतिध्वनियों से नहीं, आप बाहर के शोर से बचकर अपने भीतर शोर का बीज बोते हैं। वह बाहर के बजाय आपके भीतर पनपता है और आपकी देह से ज़्यादा आपकी आत्मा को पीड़ित करता है।

सुरक्षा बचने में नहीं है।

सुरक्षा कहीं नहीं है।

सुरक्षा एक गए युग का मुहावरा है—तुम्हारी ज़बान पर अब यह अनजबी लगता है।

25 जुलाई, 1980

इधर-पता नहीं कितने सालों से—मेरे जीवन का केन्द्रीय अनुभव लगता है कि डर है। मैं भीतर से बेतरह डरा हुआ व्यक्ति हूँ।

इस डर के कई रूप हैं।

बुरी बुरी बीमारियों का डर—घर का जब भी कोई आदमी बीमार पड़ता है मुझे डर लगता है कि कहीं इसे कोई भयंकर बीमारी न लग गई हो और तब मैं क्या करूँगा—उसे किस अस्पताल ले जाऊँगा, इलाज की कैसी व्यवस्था करूँगा।

इस डर की वजह से कितने-कितने घंटे मैंने तनाव में गुज़ारे हैं—एक पत्ते की तरह काँपते हुए, होठों में प्रार्थनाएँ बुदबुदाते हुए कि किसी तरह संकट का यह क्षण कटे।

बाहर गए हुए आदमी को जब घर लौटने में देर होती है, जब उसके लौटने

की संभावित घड़ी भी बीतने लगती है, तब मन डर से घिर जाता है। मन तमाम तरह की अप्रिय कल्पनाएँ करने लगता है। फिर अनायास ही प्रार्थनाएँ, समय बीतते जाने का अहसास नसों में धड़धड़ की आवाज़ की तरह गूँजने लगता है। प्रतीक्षा का डर। फिर जब लगता है कि प्रतीक्षा की घड़ी बीत गई, समय गुज़र गया, तब बाहर वाला आदमी लौट आता है, सही-सलामत; और नसों का तनाव दिल की कई धड़कनों के साथ छूट जाता है।

पार्क में खेलने गए बच्चे—शाम का अंधेरा घिर आने के बाद—एकाएक जब वहाँ नहीं दिखने लगते, तब 'कहाँ गए' की अकुलाहट कोई उत्तर देर तक न पाकर डर में बदलने लगती है।

मन इतना कमज़ोर हो गया है कि उसमें डर बड़ी आसानी से घुस आता है।

3 सितंबर, 80

ये सीढ़ियाँ और वो सीढ़ियाँ। एक सीढ़ियाँ मेरे दफ़्तर की एक मेरे घर की।

घर की सीढ़ियाँ उतरकर जब दफ़्तर की सीढ़ियाँ चढ़ता हूँ, तब लगता है कुछ टूटी-फूटी चीज़ों के बीच आकर मुझे भी बैठ जाना है। दफ़्तर की सीढ़ियाँ उतरकर जब घर की सीढ़ियाँ चढ़ता हूँ, तब लगता है एक नामालूम दहशत के कगार पर चढ़ रहा हूँ। सीढ़ी पर चढ़ता हुआ हर क़दम एक डर मुझे जकड़ता जाता है, एक आशंका, एक धुकधुकी। पहले माँ का कमरा पड़ता है। खाट पर अर्द्ध बेहोश-सी पड़ी हुई दिन-दिन सूखती जाती काया। मैं उधर एक नज़र डालकर गलियारे से अपने कमरे की तरफ़ बढ़ जाता हूँ।

इधर निरंतर माँ के कमरे में जाने से मैं बचता रहा हूँ। क्यों? मुझे शायद अपने आप से भय लगता है। माँ को लेकर जो एक शाश्वत भय मेरे मन में है उससे शायद मैं डरता हूँ—मैं माँ में अपना चेहरा देखने से डरता हूँ।

माँ तीन दिन से बुख़ार में बुत हैं। क्रोसीन का कोई ख़ास असर नहीं हो रहा है। कल डाक्टर भी आकर देख गए। एम्पीसिलीन के कैप्सूल और क्रोसीन। गले में घरघराहट। छाती में बलगम। आँखें बुख़ार के ताप से, कमज़ोरी से या पता नहीं क्यों बंद हैं। कल सुबह उनकी आँख में दवा डाली थी, कुछ अधखुली आँखें थीं। पर बुलाने पर वे बोलती न थीं। सोते में कई बार पेशाब कर चुकी हैं। हर दो दिन के बाद उन्हें बराबर आधी टिकिया कांपोज दी जाती रही है, ताकि वे चैन से (?) सो सकें और दूसरे भी सो सकें, वर्ना वे कराहती चिल्लाती रही थीं, जब भी वे पूर्ण होश में होती थीं।

जिस क्राइसिस में इस वक़्त माँ हैं, उसमें इसके पहले भी कई बार पड़ चुकी हैं। हर बार वे इससे निकल आई हैं। पर शरीर उनका दिनोंदिन क्षीण होता गया

है, ख़ासकर लक़वा लगने के बाद से। जिजीविषा उनमें रही है। लक़वे के बाद भी वे उठने की, उठकर खड़ी होने की ज़िद प्रकट करती रही हैं।

पता नहीं क्यों...इस वक़्त...इस वक़्त मुझे ऐसा एहसास हो रहा है कि माँ यह क्राइसिस भी झेल ले जाएँगी। उनका बुख़ार उतर जाएगा, गला साफ़ हो जाएगा, फेफड़े का इन्फेक्शन दूर हो जाएगा।...मुन्ना घर पर ही है, छुट्टी लेकर। मैं दफ़्तर चला आया हूँ। मुन्ना ने कहा था वे नलकी से माँ के गले की क़फ निकालेंगे। डॉक्टर के पास ही गए होंगे। क्या वे बुख़ार उतारने की कोई नई दवा देंगे? ग्यारह दस हो गए हैं। मुन्ना शायद अब तक डॉक्टर के पास से वापस भी आ चुके हों। शायद नलकी से कफ़ निकालने की कोशिश में लगे हों।

यह बुख़ार कैसा है? वायरस? मलेरिया? क्यों नहीं यह कम होता? क्या इसकी भी मीयाद है?

संदर्भ-सूची

मलयज की पुस्तकें

1. ज़ख़्म पर धूल—रचना प्रकाशन (1971)
2. कविता से साक्षात्कार—संभावना प्रकाशन (1979)
3. अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ—संभावना प्रकाशन (1980)
4. हँसते हुए मेरा अकेलापन—राजकमल प्रकाशन (1982)
5. रामचंद्र शुक्ल—राजकमल प्रकाशन (1987)
6. संवाद और एकालाप—राजकमल प्रकाशन (1984)
7. मलयज की डायरी—वाणी प्रकाशन
8. शमशेर (सं. मलयज)—राधाकृष्ण प्रकाशन (1971)

मलयज पर पुस्तकों में सामग्री

1. मलयज की आलोचना—अशोक वाजपेयी (सीढ़ियाँ शुरू हो गई हैं)
2. 'मलयज का कविता से साक्षात्कार'—कुँवर नारायण ('आज और आज से पहले')
3. 'मलयज की संघर्ष मीमांसा'—नामवर सिंह (वाद विवाद और संवाद)
4. मलयज की मृत्यु पर—निर्मल वर्मा (ढलान से उतरते हुए)
5. आधे रास्ते पर मलयज—निर्मल वर्मा (शताब्दी के ढलते वर्षों में)
6. मलयज की कविता—रमेशचंद्र शाह (भूलने के विरुद्ध)
7. 'मलयज का आलोचना कर्म'—अरुण कमल (कविता और समय)

पत्र-पत्रिकाओं में मलयज पर सामग्री

1. 'पूर्वग्रह' का मलयज स्मृति विशेषांक—(संयुक्तांक 51-52, जुलाई-अक्तूबर 1982)
2. पूर्वग्रह—'कविता से साक्षात्कार' की समीक्षा—नेमिचंद्र जैन (संयुक्तांक 39-40, जुलाई-सितंबर 1980)
3. पूर्वग्रह—संवाद और एकालाप की समीक्षा—पंकज (संयुक्तांक 96-97,

सितंबर-दिसंबर 1986)

4. आलोचना—'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' की समीक्षा—प्रयाग शुक्ल (नवांक 56-57, जनवरी-मार्च/अप्रैल-जूर 1981)
5. आलोचना—'कविता से साक्षात्कार' की समीक्षा-अरुण कमल (नवांक 62-63 जुलाई-सितंबर, अक्बूतर-दिसंबर 1982)
6. बहुवचन—मलयज की डायरी की समीक्षा—अरुण कमल (अंक—2, जनवरी-फ़रवरी 2002)
7. आलोचना—मलयज की डायरी की समीक्षा—विजय कुमार (अंक—9, अप्रैल-जून 2002)

●●●

मलयज (जन्म : 1935 ई., आज़मगढ़, निधन : 26 अप्रैल 1982 ई.) हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और आलोचक थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य में नेहरू युग के बाद की रचनाधर्मिता और उसके परिवेश को समझने-विश्लेषित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया और इस विन्दु पर खड़े होकर परंपरा में परिभाषित रचनाधर्मिता के कुछ विद्वानों को भी एक नए सिरे से व्याख्यायित करने में हस्तक्षेप किया।

मलयज की आलोचना का मिज़ाज एक विशुद्ध अकादमिक आलोचक की आलोचना से भिन्न तरह का है। एक गहरी संवेदनशीलता और लगाव के साथ वे कृति के आंतरिक संसार में उतरते हैं। उनकी आलोचना का परिप्रेक्ष्य विघटित होते मूल्यों के दौर में संवेदनशीलता के नए रूपों की शिनाख़्त से वनता है। भाषा, सौन्दर्य-रुचि और अनुभव सँजोनेवाला तंत्र उनके वुनियादी विश्लेषण के आधार रहे हैं। रोष, व्यंग्य, कुढ़न, ललकार, विषाद, करुणा, भावुकता और आत्म-दया के तमाम शेड्सवाली समकालीन रचनाशीलता के विभिन्न संसारों को समझने का उन्होंने प्रयत्न किया है। दूसरी तरफ़ उनकी कविताओं में ख़ास तरह की वैचारिक तीक्ष्णता और संवेदनात्मक छटपटाहट नज़र आती है। रघुवीर सहाय ने उनकी कविताओं पर टिप्पणी करते हुए उन्हें एक नई शैली और एक नई व्यक्ति-गरिमा दोनों की एक साथ खोज कहा है।

मलयज की प्रकाशित कृतियों में *कविता से साक्षात्कार, संवाद और एकालाप* तथा *रामचंद्र शुक्ल शीर्षक* आलोचनात्मक पुस्तकों के अलावा *ज़ख़्म पर धूल, अपने होने को प्रकाशित करता हुआ* (कविता-संग्रह), *हँसते हुए मेरा अकेलापन* (सृजनात्मक गद्य), *मलयज की डायरी* (डायरी) प्रमुख हैं।

प्रस्तुत विनिबंध के लेखक **डॉ. विजय कुमार** (जन्म : 11 नवंबर 1948 ई., मुंबई) हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि और आलोचक हैं। आपने *पहल* और *उद्‌भावना* के विशेषांकों का संयोजन-संपादन किया है। आपके तीन कविता-संग्रह और तीन आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं—*अदृश्य हो जाएँगी सूखी पत्तियाँ* एवं *चाहे जिस काल में* (कविता-संग्रह) और *कविता की संगत* एवं *अँधेरे समय में विचार* (आलोचना)। कविता के लिए शमशेर सम्मान तथा आलोचना के लिए देवीशंकर अवस्थी सम्मान से विभूषित डॉ. कुमार भारत सरकार के एक संस्थान में वरिष्ठ पद पर कार्य करने के पश्चात् इन दिनों स्वतंत्र लेखन कार्य में संलग्न हैं।

ISBN : 81-260-2262-0

मूल्य : 25 रुपये